स्वदेशी चिकित्सा

आपका स्वास्थ्य आपके हाथ

डा. चंचलमल चोरडिया

स्वदेशी चिकित्सा
आपका स्वास्थ्य आपके हाथ

(भाग–4)

लेखक:

डॉ. चंचलमल चोरड़िया

स्वराज प्रकाशन समूह

विषय सूची

प्रस्तावना

आजादी के 55 साल बाद जब हम नई सदी में प्रवेश कर चुकें हैं। तब विकास के पैमानों के ऊपर पुनर्विचार फिर से शुरू हुआ है। पश्चिम के विकास की अवधारणा ने दुनिया की अन्य सभ्यताओं के विकास की अवधारणाओं को बहुत पीछे छोड़ दिया है। इसकी बजह से दुनिया में सभी तरफ पश्चिम का विकास ही दिखाई देता है।

इसी तरह आधुनिक विज्ञान (पश्चिमी आधुनिक विज्ञान) ने दुनिया के अन्य तमाम सभ्यतागत विज्ञान को लगभग खत्म ही कर दिया है। यह सब कुछ बहुत सोच समझकर रणनीति के तहत किया गया है। इन सब का इतिहास हम किताबों में पढ़ सकते है।

स्वास्थय का सवाल मानव समाज के लिए हमेशा से महत्त्वपूर्ण रहा है। उसके साथ–साथ स्वस्थ कैसे रहे यह भी हर समाज अपने तरीके से सोचता आया है। लेकिन आधुनिक चिकित्सा पद्धति (ऐलोपैथिक चिकित्सा पद्धति) ने स्वस्थ रहने के सवाल पर कोई नजरिया पेश ही नहीं किया बल्कि अस्वस्थ होने की स्थिति में ढ़ेर सारी दवाई देने के तरीके खोज निकाले है। इस वजह से दवा उद्योग भी काफी तेजी से बढ़ा है और मरीजों की संख्या भी बढ़ती गयी है। यह आश्चर्यजनक बात है कि एक तरफ डॉक्टर भी बढ़ रहे है, हॉस्पिटल भी बढ़ रहे है और मरीज भी बढ़ रहे है।

गांधीजी ने इस बात पर काफी जोर दिया था कि यदि हम स्वस्थ रहने के बारे में समाज के लोगों को जाग्रत करें तो लोग कम से कम बीमार पड़ेगें। यह सिद्धांत सभी वैकल्पिक चिकित्सा पद्धतियों में अपनाया जाता है। इसीलिये आज यह आवश्यकता है कि इस सिद्धांत को आगे बढ़ाया जाये।

इसी के फल स्वरूप डॉ चंचलमल चोरड़िया की यह किताब आंदोलन द्वारा प्रकाशित की जा रही है। डॉ चंचलमल चोरड़िया वैकल्पिक चिकित्सा पद्धतियों के विशेषज्ञ हैं। पूरे देश में जगह–जगह उनके शिविर लगते हैं और रोगियों को उनकें उपचार से काफी लाभ भी मिलता है। हम उनके आभारी है कि जनहित के लिए उन्होंने यह पुस्तक आंदोलन को प्रकाशित करने की अनुमति दी।

आशा है सभी सुधी पाठकों को इस किताब से अवश्य लाभ मिलेगा।

राजीव दीक्षित
आजादी बचाओ आंदोलन

आमुख

विश्व के सबसे बड़े तीन उद्योग हैं– पहला सैन्य अस्त्रशस्त्र निर्माण, दूसरा इलेक्ट्रोनिकल उपकरण और तीसरा दवा और सौन्दर्य प्रसाधन उत्पादन। मानव के अमूल्य श्रम और विपुल सम्पदा का अस्सी प्रतिशत भाग इन तीनों में अपव्यय हो जाता है। इनकी तुलना में शिक्षा, कृषि, पशुपालन से लेकर पर्यावरण तक अत्याधिक गौण हैं; जैसे भारत की सकल घरेलू आय का केवल तीन प्रतिशत शिक्षा पर खर्च किया जाता है।

सौन्दर्य प्रसाधनों के पदार्थ और प्रक्रियाएँ हर युग में परिवर्तित हो जाती हैं फिर भी मानव विद्रूप ही दृष्टिगोचर होता है। दवाइयों के निर्माण का सिलसिला तो इतना घातक है कि प्रत्येक दशक में पूर्व प्रयुक्त दवाइयाँ विष घोषित कर दी जाती हैं। इस समय भारत के ऐलोपैथिक डाक्टर जो दवाइयाँ लिखते हैं उनमें से दो सौ से अधिक दवाइयाँ प्राणघाती मान कर प्रतिबन्धित कर दी गई हैं। अब पाश्चात्य विकसित देशों में इन औषधियों के प्राकृतिक विकल्प खोजे जा रहे हैं। यहाँ तक कि सम्पूर्ण विश्व में स्वास्थ्य के पुनर्परिभाषित करने हेतु अनुसन्धानों में खरबों खरब रूपये खर्च किए जा रहे हैं जबकि दूसरी ओर बियाफ्रा, जंजीबार, इथोपिया, सोमालिया जैसे देशों में करीब पचास लाख लोग भूख से मर गए। विश्व खाद्य संगठन को आशंका है कि अब दक्षिण पूर्वी एशिया में भी भुखमरी का प्रकोप होगा।

मानव इतिहास के ऐसे दयनीय क्रूर मोड़ पर स्वास्थ्य विज्ञान के बहुआयामी अनुभवी दार्शनिक श्री चंचलमल चोरडिया की यह पुस्तक समग्र मानव समुदाय के लिय आत्मबोध हेतु एक दिव्य प्रदीप है।

वर्तमान उपयोगितावादी भौतिक विज्ञान की यह विडम्बना है कि वह शाश्वत सत्य को विनाश के अन्तिम छोर पर स्वीकार करता है जैसे एड्स के भस्मासुर के जन्म लेने पर अब ब्रह्मचर्य या मर्यादित यौन का व्यापक प्रचार गम्भीर चेतावनी के रूप में किया जा रहा है। प्रकृति के सभी सूत्रों के घोर उल्लंघन पर जब पृथ्वी का तापमान बढ़ने लगा, वृक्ष, पशु, पंक्षी विनष्ट होने लगे। आकाश की ओजोन पट्टिका में छिद्र हो गए। जल और वायु दोनों प्रदूषित होकर प्राणों के संकट बन गए तब प्रकृति की ओर लौटने के नारे जोर–शोर से लगाए जा रहे हैं। ऐसे समय श्री चोरडियाजी का यह ग्रन्थ हमें सकारात्मक मौलिक चिन्तन के लिए प्रेरित

करता है।

चोरडियाजी ने आधारभूत मुद्दे उठाए हैं, जैसे स्वास्थ्य की भारतीय शास्त्रीय परिभाषा है— स्व+स्थ अर्थात स्वयं में स्थित होना। मानव अपनी मौलिक संरचना से विचलित या विकृत होते ही रोगी हो जाता है, इसलिए किसी भी रोग का साध्य बाहर नहीं अपने भीतर है। भीतर क्या है? हमारी चेतना, प्राणशक्ति जो कभी आरोपित नहीं की जा सकती। अन्तश्चेतना की अक्षुण्णता तो संयम–नियम पर निर्भर है। शरीर इस चेतना का धारक या कवच मात्र है।

हम विश्रृंखलित शरीर से भी अन्तश्चेतना के बिखराव या क्षरण को रोक सकते हैं किन्तु किसी भी रोग को शामित करते समय हमें सम्पूर्ण शरीर को एक इकाई मानना पड़ेगा। जब सृष्टि सापेक्षित है तो शरीर के अंग–प्रत्यंग और उनकी संवेदनाएँ तो अनन्य रूप से सापेक्षित है। रोग एक लक्षण मात्र है भीतर की विचलन का। जैसे ज्वर या शिरोवेदना अथवा पेटदर्द अपने आप में कोई रोग नहीं, ये सभी हमारे अप्राकृतिक जीवन से क्षरित अन्तश्चेतना या प्राणशक्ति के उभार है।

अपराध विज्ञान यह मानता है कि दो व्यक्तियों के अंगूठे के निशान एक जैसे नहीं होते। होम्योपैथी की नई खोज यह स्वीकार करती है कि जैसा पीपल का एक पत्ता है वैसे उस वृक्ष पर तो क्या समग्र सृष्टि में अगणित पीपलों का कोई पत्ता नहीं है तब दो मानव एक जैसे कैसे हो सकते हैं? जब दो व्यक्ति शारीरिक संरचना और मानसिकता की दृष्टि से भिन्न हैं तो उनके लिए एक दवा, एक गोली या एक–सा उपचार उचित कहाँ? अब विज्ञान भी मानने लगा है कि डी.एन.ए के विश्लेषण अनुसार प्रत्येक व्यक्ति भिन्न है।

भारतीय उपनिषदों में लिखा है – "अनाद्वै प्रजा प्रजायन्ते।" अन्न से ही प्रजा उत्पन्न होती है। "अन्नंहि भूतानां ज्येष्ठम्" अन्न प्राणियों का ज्येष्ठ है अर्थात वह सब प्राणियों में पहले उत्पन्न हुआ। "तस्मात्सर्वौषिधमुच्यते" इसलिए वह (अन्न) सर्व औषधि है। मासांहार तो भयानक विष है। फिर पशु–पक्षियों की हिंसा से सृष्टि में एक और प्रचण्ड उपद्रव होता। जब हम शब्द को अक्षुण्ण मानते हैं जो तत्काल सम्पूर्ण पृथ्वी में व्यापत हो जाता है तो हत्या किए जाने वाले पशु–पक्षियों की कराहे क्या ब्रह्माण्ड को आन्दोलित नहीं करेगी? आइन्स्टीन जैसे वैज्ञानिक ने माना है कि हिंसा करने से मानव समुदाय संवेदन शून्य होता जा रहा है। इस अमानवीकरण के कारण हम महायुद्धों में करोड़ों व्यक्तियों की हत्या करने के साथ अपनी विपुल प्राकृतिक सम्पदा का हनन करते है। हिंसा मानव स्वभाव नहीं है। जब स्व+भाव नहीं रहेगा तो कोई स्व+स्थ कैसे रहेगा। चोरडियाजी ने परम विज्ञान के इस सूत्र को सरल भाषा में सम्प्रेषित किया है इसी तरह एक दर्शन है स्वावलम्बन का जो भी स्व+ अवलम्बन से बना है। यदि हमें 'स्व' आलम्बित होंगे। बाह्य उपचार वे ही सार्थक है जो हमें अपने मौलिक प्राकृतिक स्वरूप में स्थित रखे। इस पुस्तक की गरिमा

या विशेषता इसलिए है कि इसमें शरीर के तल का चिन्तन मात्र नहीं है, भाव जगत की भूमिका को रेखांकित किया है। हम क्रोधित, लम्पट, लालची रह कर कभी स्वस्थ नहीं रह सकते। संयम, नियम और मानवधर्म की उपेक्षा का हम स्वास्थ्य को न तो सौगात में ले सकते, न खरीद सकते, न उधार ले सकते। विज्ञान आनुवांशिकता पर जोर देता है मगर भारतीय संस्कृति प्रारब्ध या कर्मफल के प्रति सतर्क रखती है। यदि हम कुकर्म करते हैं तो उसका फल स्वयं हमें और हमारी भावी पीढ़ियों को भुगतना पड़ेगा इसलिए स्वास्थ्य हमारे कर्म, धारणाएँ, धर्म और जीवनशैली पर आधारित है और यह भी ध्रुव सत्य है कि आयुष्य पूर्व निर्धारित होती है।

वैसे टेबल पर सौ पचास किताबें रख एक नया संकलन करना आसान है। विभिन्न रोगों से उत्पीड़ित मानव समाज में ऐसी पुस्तकों की बाढ़ आ गई है। मगर श्री चंचलमलजी चोरड़िया ने इलेक्ट्रिकल इन्जीनियर और प्रतिष्ठित व्यवसायी होने के पश्चात कई दशकों तक प्रायोगिक रूप से प्रमुख भारतीय और अन्तर्राष्ट्रीय प्रख्यात वैकल्पिक चिकित्सा पद्धतियों के आचार्यों के साथ सघन अभ्यास किया। हम सभी जानते है कि आपने अपने जीवन के त्रासद और दुर्घटनापूर्ण क्षणों में इनका प्रयोग किया। सैकड़ों शिविरों में हजारों रोगियों का अपनी अहिंसक स्वालम्बन चिकित्सा प्रणालियों से पूर्ण उपचार किया। इस दौरान आपने व्यापक अध ययन किया। स्वयं पढ़ कर सैकड़ों लोगों को ऐसी प्रेरक किताबे भेंट की। आपने निरंन्तर अपने अनुभवों पर आधारित विविध आयामों पर पर्चे लिख, मुद्रित करा प्रधानमन्त्री से लेकर सामान्य श्रमिक तक को निशुल्क बाँटे। भारत के सभी पत्र पत्रिकाओं में आपके लेख पाठकों द्वारा अभिनन्दनीय अनुकरणीय रहे। देश विदेशों में स्मरणीय व्याख्यान दिए। अनेक उच्च पुरस्कार तथा सम्मान प्राप्त किए। तब मेरे जैसे अनेक प्रशंसकों का अनुरोधपूर्ण दबाव रहा कि आप स्वास्थ्य विज्ञान की सघन व्यापक मौलिक अनुभूतियों को ग्रन्थों के माध्यम से अभिव्यक्त करे उसी विनय का यह प्रथम पुष्प है। चोरडियाजी विद्वान समर्पित, उच्चतम मानवीय गुणों के पुँज है इसलिए उनका यह लेखन भी उतना ही सशक्त, सात्विक है।

प्रोफेसर लक्ष्मीकान्त जोशी,
सम्पादक दैनिक प्रतिनिधि

स्व–कथन

अपना शरीर हमारे लिए दुनियाँ की सर्वश्रेष्ठ निधि है। अमूल्य अंगों, उपांगों, इन्द्रियों, मन, मस्तिष्क और विभिन्न अवयवों द्वारा निर्मित मानव जीवन का संचालन और नियन्त्रण कौन करता है? यह आज भी वैज्ञानिकों के लिए शोध का विषय है। स्वास्थ्य एवं चिकित्सा विज्ञान के विकास एवं लम्बे–चौड़े दावों के बावजूद शरीर के लिए आवश्यक रक्त, वीर्य, मज्जा, अस्थि जैसे अवयवों का उत्पादन तथा अन्य अंगों, इन्द्रियों का निर्माण सम्भव नहीं हो सका। मानव शरीर में प्रायः संसार में उपलब्ध सभी यंत्रों से मिलती–जुलती प्रक्रियाएँ होती हैं। मानव मस्तिष्क जैसा सुपर कम्प्यूटर, आँखों जैसा कैमरा, हृदय जैसा अनवरत चलने वाला पम्प, कान जैसी श्रवण व्यवस्था, आमाशय जैसा रासायनिक कारखाना आदि एक साथ मिलना बहुत दुर्लभ है। उससे भी आश्चर्यजनक बात तो यह है कि सारे अंग, उपांग, मन और इन्द्रियों के बीच आपसी तालमेल। यदि कोई तीक्ष्ण पिन, सुई अथवा काँच आदि शरीर के किसी भाग में चुभ जाए तो सारे शरीर में कंपकंपी हो जाती है। आँखों से आँसू और मुँह से चीख निकलने लगती है। शरीर की सारी इन्द्रियाँ एवं मन क्षण भर के लिए अपना कार्य रोक शरीर के उस स्थान पर केन्द्रित हो जाते हैं। उस समय न तो मधुर संगीत अच्छा लगता है और न ही मन–भावन दृश्य। न हँसी मजाक में मजा आता है और न खाना–पीना भी अच्छा लगता है। मन जो दुनियाँ भर में भटकता रहता है, उस स्थान पर अपना ध्यान केन्द्रित कर देता है। हमारा सारा प्रयास सबसे पहले उस चुभन को दूर करने में लग जाता है। जैसे ही चुभन दूर होती है, हम राहत का अनुभव करते हैं। जिस शरीर में इतना आपसी सहयोग, समन्वय, समर्पण, अनुशासन और तालमेल हो अर्थात् शरीर के किसी एक भाग में दर्द, पीड़ा और कष्ट होने की स्थिति में सारा शरीर प्रभावित हो तो क्या ऐसे स्वचालित, स्वनियन्त्रित, स्वानुशासित शरीर में असाध्य एवं संक्रामक रोग पैदा हो सकते हैं? चिन्तन का प्रश्न है।

हम एक साधारण मशीन बनाते हैं। उसको भी खराब होने से बचाने के लिए उसमें आवश्यक सुरक्षात्मक प्रबन्ध करते हैं। तब विश्व के सर्वश्रेष्ठ मानव शरीर रूपी यंत्र में रोग से बचाव हेतु आवश्यक सुरक्षा व्यवस्था न हो कैसे सम्भव है? मानव

जीवन अनमोल है, अतः उसका दुरूपयोग न करें। वर्तमान की उपेक्षा भविष्य में परेशानी का करण बन सकती है। वास्तव में हमारे अज्ञान, अविवेक, असंयमित, अनियंत्रित, अप्राकृतिक जीवन चर्या के कारण जब शरीर की प्रतिकारात्मक क्षमता से अधिक शरीर में अनुपयोगी, बिजातीय तत्त्व और विकार पैदा होते हैं तो शारीरिक क्रियाएँ पूर्ण क्षमता से नहीं हो पातीं, जिससे धीरे–धीरे रोगों के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। अनेक रोगों की उत्पत्ति के पश्चात् ही कोई रोग हमें परेशान करने की स्थिति में आता है। उसके लक्षण प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से प्रकट होने लगते हैं। शरीर में अनेक रोग होते हुए भी किसी एक रोग की प्रमुखता हो सकती है। अधिकांश प्रचलित चिकित्सा पद्धतियाँ, उसके आधार पर रोग का नामकरण, निदान और उपचार करती हैं। प्रायः रोग के अप्रत्यक्ष और सहयोगी कारणों की उपेक्षा के कारण उपचार आंशिक एवं अधूरा ही होता है। सही निदान के अभाव में उपचार हेतु किया गया प्रयास लकड़ी जलाकर रसोई बनाने के बजाय मात्र धुँआ करने के समान होता है। जो भविष्य में असाध्य रोगों के रूप में प्रकट होकर अधिक कष्ट, दुःख और परेशानी का कारण बन सकते हैं।

चिकित्सा पद्धति की सबसे महत्त्वपूर्ण आवश्यकता होती है, उसकी प्रभावशीलता, तुरन्त राहत पहुँचाने की क्षमता तथा दुष्प्रभावों से रहित स्थायी रोग मुक्ति। इन मापदण्डों को जो चिकित्सा पद्धतियाँ पूर्ण नहीं करतीं, वे चाहे जितने विज्ञापन एवं प्रचार–प्रसार द्वारा दावे करें, जनसाधारण को मान्य नहीं हो सकती। जिस प्रकार पानी पीने से प्यास शान्त होने लगती है। खाना, खाना प्रारम्भ करते ही भूख कम होने लगती है। उसी प्रकार उपचार प्रारम्भ करते ही परिणाम आने चाहिए। उपचार तो चन्द दिनों का आलम्बन तक ही सीमित होना चाहिए। जहाँ दवा जीवन की आवश्यकता बन जाए ऐसा उपचार और निदान सही नहीं हो सकता।

दुर्भाग्य तो इस बात का है कि स्वास्थ्य के सम्बन्ध में प्रायः व्यक्ति आत्म–विश्लेषण नहीं करता। गलती स्वयं करता है और दोष दूसरों को देता है। रोग का समाधान स्वयं के पास है और ढूँढता है डाक्टर और दवाइयों में, परिणामस्वरूप समस्याएँ सुलझने की बजाय उलझने लगती हैं। रोग से उत्पन्न दर्द, पीड़ा, कष्ट एवं संवेदनाओं की जितनी अनुभूति स्वयं रोगी को होती है, उतनी सही स्थिति कोई भी यंत्र और रासायनिक परीक्षणों द्वारा मालूम नहीं की जा सकती। दवा और डाक्टर तो उपचार में मात्र सहयोगी की भूमिका निभाते हैं, उपचार तो शरीर के द्वारा ही होता है। अतः जो चिकित्सा जितनी ज्यादा स्वावलम्बी होगी, रोगी की उसमें उतनी ही अधिक सजगता, भागीदारी एवं सम्यक् पुरूषार्थ होने से प्रभावशाली होगी।

विज्ञापन और भोगवादी मायावी युग में स्वार्थी मनोवृत्ति के परिणामस्वरूप तथा जनसाधारण की असजगता, उदासीनता एवं सम्यक् चिन्तन के अभाव के कारण

आज चारों तरफ से मानव पर अन्याय, अत्याचार, विश्वासघात जैसी घटनाएँ हो रही है। चिकित्सा का पावन क्षेत्र भी उससे अछूता नहीं है। चिकित्सा के नाम पर आज हिंसा को प्रोत्साहन, अकरणीय, अनैतिक आचरण को मान्यता, अभक्ष्य अथवा अखाद्य पदार्थों का सेवन उपयोगी, आवश्यक बतलाने का बेधड़क खुल्लम-खुला प्रचार हो रहा है। अतः काफी समय से प्रभावशाली, स्वावलम्बी, अहिंसात्मक चिकित्सा पद्धतियों हेतु मन में चिन्तन और जिज्ञासा होने लगी ताकि हिंसा के इस क्षेत्र का विकल्प जनसाधारण को समझाया जा सके। दृढ़ इच्छाशक्ति के कारण मैंने एक्यूप्रेशर, चुम्बक, सूर्य किरण, रंग, पिरामिड, शिवाम्बु, रेकी, मुद्रा विज्ञान, स्वर विज्ञान पद्धतियों का प्रशिक्षण लिया तथा राष्ट्र और अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर आयोजित समग्र चिकित्सा सम्मेलनों में भाग लेकर अहिंसात्मक चिकित्साओं को न केवल अपने जीवन में अपनाया, अपितु हजारों रोगियों को रोग मुक्त करने का सुखद अनुभव प्राप्त किया। स्वयं द्वारा-आयोजित प्रशिक्षण शिविरों तथा स्वास्थ्य के विषयों पर सैंकड़ों विचार गोष्ठियों में विचार चर्चा तथा शंका समाधानों से स्वास्थ्य के प्रति व्यापक दृष्टिकोण के आधार पर विज्ञान और आध्यात्म का भेद समझने का सुअवसर मिला। अपने अनुभवों को जनसाधारण के उपयोग हेतु पुस्तक के रूप में प्रकाशित करने का मेरा मानस बना। तीन खण्डों में प्रकाशित होने वाली प्रभावशाली, स्वावलम्बी, अहिंसात्मक चिकित्सा पद्धतियों के इस प्रथम भाग में रोग क्या, क्यों, कब और कैसे? स्वास्थ्य क्या है? विज्ञान क्या है? स्वास्थ्य में मन, वाणी प्राण, पर्याप्तियों तथा आत्मा और उसको प्रभावित करने वाले कर्म, भाव आदि का विवेचन किया गया है। जब तक रोग के कारणों की उपेक्षा होगी, सम्पूर्ण स्वास्थ्य की प्राप्ति कल्पना मात्र ही होगी। पुस्तक का दूसरा खण्ड "स्वस्थ जीवन कैसे जीएं" तथा तृतीय खण्ड में "प्रभावशाली स्वावलम्बी अहिंसात्मक चिकित्सा पद्धतियों द्वारा निदान, उपचार और रोकथाम का विवेचन प्रस्तावित है।"

प्रस्तुत पुस्तक में स्वास्थ्य के सम्बन्ध में एक नवीन चिन्तन प्रस्तुत करने का लघु प्रयास है। चिकित्सक रोग का कारण शरीर को मानता है, अतः उपचार करते समय शरीर को ही महत्त्व देता है। योगी और साधक रोग का कारण आत्मा के विकारों को मानते हैं। अतः आत्मा की शुद्धि को अधिक महत्त्व देते हैं। आत्मा और शरीर में किसी की भी उपेक्षा करने से हम अपनी क्षमताओं का उचित लाभ नहीं उठा सकते। क्योंकि जब तक जीवन है, दोनों की उपयोगिता है।

इस नवीन दृष्टिकोण की विभिन्न प्रतिक्रियाएँ हो सकती हैं। सुज्ञ पाठक मेरी बातों से सहमत होंगे तथा अच्छी जीवन शैली जीने और प्रभावशाली उपचार हेतु उनमें जिज्ञासा जगेगी। चन्द पाठकों को अपनी शंकाओं को दूर करने के लिए और अधिक स्पष्टीकरण एवं तर्कसंगत समाधान की अपेक्षा हो सकती है। कुछ पाठक

सच्चाई को जानने, मानने के बावजूद अपनी विवशताओं, पूर्वग्रसित दृढ़ मान्यताओं के कारण अस्वीकर भी कर सकते हैं। अधिकांश व्यक्ति दृढ़ इच्छाशक्ति एवं आत्मविश्वास के अभाव में सम्यक् पुरूषार्थ न कर सकने के कारण चाहते हुए भी स्वास्थ्य लाभ से वंचित रह जाएँ तो आश्चर्य नहीं। पुस्तक में जो अपूर्णता है, उसका कारण मेरा विषय के सम्बन्ध में अल्पज्ञान ही है। विचारों की स्पष्ट अभिव्यक्ति के पीछे मेरी भावना किसी भी चिकित्सा पद्धति का विरोध करना नहीं, अपितु चिकित्सा के क्षेत्र में उपेक्षित सनातन सत्य के प्रति अनेकान्त दृष्टिकोण से बिना किसी दुराग्रह, घृणा, सम्यक् चिन्तन हेतु जनसाधारण के विवेक को जागृत करने मात्र का है। मेरा प्रयास तो अपने अनुभवों को संकलन कर जनसाधारण के लाभ हेतु प्रचारित करना मात्र है। अतः सुज्ञ पाठकों के सम्यक् सुझाव के साथ–साथ क्रियान्विति हेतु अपनाए जाने वाले उपाय सादर आमंत्रित हैं। – "सच्चा सो सबका–" के सिद्धान्तानुसार सुज्ञ पाठकों का सम्यक् मार्गदर्शन एवं प्रतिक्रियाएँ भी आमन्त्रित हैं।

यह एक चिन्तनीय प्रश्न है? ....

इसका विशद् विवेचन मिलेगा, इस पुस्तक के आरोग्य विज्ञान में जिसे पढ़कर मानव मनीषा में स्वास्थ्य के प्रति सच्ची समझ विकसित होगी। मानव दवाओं की दासता से मुक्त होगा। काश! ऐसा हुआ तो मैं मानूँगा कि मेरा श्रम, श्रेय की दिशा में सार्थक हुआ। मुझे विश्वास है कि यह परिणाम प्रयोगात्मक रूप में अवश्य परिणत होगा। क्यों कि भारतीय भ्रान्त ही नहीं, भद्र भी है। उनके पास पूर्वजों की स्वास्थ्य वसीयत आरक्षित भी है। जैसे कि 1. सौ दवा–एक हवा, 2. दवा नहीं–दुआ लो 3. मन चँगा तो कठोती में गँगा 4. पहला सुख, निरोगी काया 5. एक तन्दुरूस्ती सो नियामत 6. पैर गरम, पेट नरम, सिर ठण्डा, फिर वैद्य आवे तो मारो डण्डा आदि–आदि। इससे स्पष्ट है कि भारतीय स्वास्थ्य विशेषज्ञ प्राकृति रहस्यों से सुपरिचित है। इसी का ब्यौरा है इस पुस्तक में।

प्रस्तुत पुस्तक को आद्योपांत पढ़े, बिना सोचे–समझे शीघ्रता में निर्णय नहीं करें। मेरा यह लेखन मानव सवास्थ्य की समग्र चिन्ता के चिन्तन का परिणाम है।

प्रस्तुत पुस्तक स्वास्थ्य प्रेमियों के लिए प्रकाश स्तम्भ का कार्य करेगी जिससे स्वास्थ्य के नाम पर भूले–भटके लोगों को सही मार्ग का बोध होगा। पुस्तक स्वास्थ्य प्राप्ति के लक्ष्य में मील का पत्थर बने, पाठकों को अपने अपने स्वास्थ्य के प्रति सजगता जगाने का मापदण्ड बने, ऐसी मंगल कामना है।

विभिन्न चिकित्स पद्धतियों से जुड़े चिकित्सकों से विनम्र अनुरोध है कि वे अपने और अपनी चिकित्सा के अहंकार को छोड़ व्यापक दृष्टिकोण अपनाएँ ताकि पीड़ित मानवता को सहज, सस्ती, स्थायी, स्वास्थ्य सेवाएँ उपलब्ध हो सकें।

मैं आभारी हूँ मेरे स्वर्गीय माता–पिता एवं स्वर्गीय जैनाचार्य हस्तीमलजी

आधार पर स्पर्धा करने में असमर्थ होने पर ये 'मुक्त बाजार' के वकील अब निराश होकर अपना एकाधिकार जमाने की फिराक में हैं।

भारतीय पेटेन्ट कानून–1970 के लागू होने के बाद देशी दवा उद्योग में अच्छी प्रगति हुई और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों पर निर्भरता कम होने लगी। 1974 में दवा उत्पादन 500 करोड़ रूपये से बढकर 1991 में 4000 करोड़ और 1994 में 6000 करोड़ रूपये का हो गया था। इसी प्रकार 1985–86 से 1991–92 के बीज 6 वर्षों की अवधि में हमारा दवा निर्यात 140 करोड़ रूपये से बढकर 1281 करोड़ रूपये का हो गया था। 1991–92 मे 76 करोड़ रूपये की दवाइयाँ अमेरिका को निर्यात की गयीं। भारतीय दवा कम्पनियों को जो भी सफलता मिली उसके पीछे पेटेन्ट कानून – 70 का बहुत हाथ रहा।

गैट समझौते का सहारा लेकर बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ इस पेटेन्ट कानून को बदलवाना चाहती हैं, उनका कहना है कि भारतीय दवा कम्पनियाँ उनके फार्मूलेशन्स चुरा कर दवाइयों का उत्पादन कर रही हैं। हालाँकि यह सही नहीं है। 1970 के पेटेन्ट कानून के मुताबिक केवल 'प्रक्रिया पेटेन्ट' का फायदा देशी कम्पनियों को मिला। परन्तु अब गैट के मुताबिक 'उत्पाद पेटेन्ट' लागू हो जायेगा तो बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का अधिकतर दवाइयों पर अधिकार हो जायेगा। पेटेन्टीकृत दवाइयों का प्रतिशत नीचे सूची में दिया गया है, जिससे हम अन्दाजा लगा सकते हैं कि नया पेटेन्ट कानून लागू हो जाने के बाद बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की स्थिति कितनी मजबूत हो जायेगी। भविष्य में बनने वाली सभी दवाइंयों पर पेटेन्ट अधिकार लागू होंगे जो बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के कब्जे में रहेंगे। नये पेटेन्ट कानूनों का प्रभाव होगा (1) दवाइयों के दाम 5 से 20 गुनाँ और अधिक हो जायेंगे।

दवाएं	कितने प्रतिशत पेटेंट के दायरे में हैं
कीटाणुनाशक (एण्टीबायोटिक)	40.23
जीवाणुनाशक (एण्टीबैक्टीरियल)	98.80
फफूंदीनाशक (एण्टीफंगल)	25.66
कुष्ठ रोग नाशक (एण्टीलेप्रॉटिक्स)	69.96
हृदय रोग नाशक (कार्डियोवेसकुलर)	40.18
दर्द नाशक (ट्रान्क्यूलाइजर)	74.42
मधुमेह नाशक (एण्टीडायबिटिक)	55.30
अस्थमा नाशक (एण्टी एस्थमैटिक)	47.53
गर्भनिरोधक (कन्ट्रासेप्टिव)	88.79
अल्सर रोधी (एण्टी पेप्टिक अल्सर)	65.92
ल्यूकेमिया रोधी (एण्टील्यूकैमिक)	32.41

महाराज साहब का जिन्होंने मेरे जीवन में सद् संस्कारों का रोपण किया। मैं आभारी हूँ मेरी धर्मपत्नी श्रीमती रतन चोरडिया एवं पुत्र श्री अशोक चोरडिया एवं परिवार के अन्य सदस्यों का जिन्होंने पारिवारिक दायित्वों से आंशिक मुक्त कर स्वावलम्बी अहिंसात्मक चिकित्सा पद्धतियों के माध्यम से रोगग्रस्त मानव की सेवा करने तथा जनसाधारण में उसके प्रति सजगता जागृत करने में सहयोग दिया। पुस्तक प्रकाशन के कार्यों हेतु निःस्वार्थ सेवाएँ देने हेतु मैं प्रकाशजी सालेचा एवं राजकुमारसिंह जी भण्डारी का विशेष आभारी हूँ। पुस्तक का आमुख लिखने के लिए प्रोफ़ेसर लक्ष्मीकान्त जी जोशी एवं पुस्तक लिखने की प्रेरणा देने के लिए श्रद्धेय महोपाध्याय ललितप्रभसागर जी महाराज साहब का विशेष आभार प्रकट करता हूँ। मै आभारी हूँ उन सभी विद्वतजनों का जिसने पुस्तक की पाण्डुलिपि को पढ़कर अपने अभिमत भिजवाने का श्रम किया। मैं आभारी हूँ उन गुरूजनों का जिन्होंने मुझे बिना दवा विभिन्न उपचार–पद्धतियों का आत्मीयता से प्रशिक्षण दिया। विशेष रूप से श्री विपिनभाई शाह, कान्तिभाई शाह, स्वर्गीय डा. ज़ी.के ठक्कर, डा. देवेन्द्र बोरा, डा. महेश भाई पारीक (मुम्बई), डा. जितेन भट्ट, सुरेश भाई सर्राफ एवं मायाबेन पंजाबी (बड़ौदा), डा. सुमनभाई शाह (कलकत्ता), डा. ई. डब्लू. पार्क (कोरिया), धर्मानन्दजी (देहली), डा. अजीत मेहता (जयपुर) इत्यादि। इस अवसर पर मैं विशेष आभारी हूँ उन प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष समस्त लेखकों, विचारकों, संतों का जो इस क्षेत्र में अपने विचारों की अभिव्यक्ति कर जनचेतना जागृत करने में संलग्न हैं। जिनकी वार्ताएँ एवं विचार सुन अथवा पुस्तकें पढ़ मेरे जीवन में स्वावलम्बी चिकित्सा के प्रति आत्मविश्वास जाग्रत हुआ। मैं उन सभी थैरेपिस्टों, पाठकों, चिकित्सकों एवं श्रोताओं का भी आभारी हूँ जिन्होंने मेरी वार्ताएँ सुन तथा मेरे आलेखों को पढ़ प्रत्यक्ष–परोक्ष रूप से मुझ ऐसी पुस्तक लिखने हेतु प्रेरित किया। मैं सर्वाधिक आभारी हूँ, उन समस्त रोगियों का जिन्होंने मुझ पर विश्वास कर ऐसी चिकित्सा पद्धतियों द्वारा रोग मुक्ति पाकर अहिंसात्मक चिकित्सा पद्धतियों के प्रति जनचेतना एवं विश्वास जाग्रत किया।

डॉ. चंचलमल चोरडिया
चोरडिया भवन, जालोरी गेट के बाहर.
जोधपुर(राज.) 342 003
फोन. निवास 0291–621454 437689

अध्याय — 1

हमारा जीवन और स्वास्थ्य

स्वास्थ्य का महत्त्व

स्वस्थ जीवन मानव की सर्वोच्च आवश्यकता है। अच्छे स्वास्थ्य के बिना मानव न तो शान्त, सुखी, आनन्दित जीवन–यापन कर सकता है और न ही अपने लक्ष्यों की पूर्ति आसानी से कर सकता है। अस्वस्थ शरीर सुखी जीवन को दुःखी बना सकता है, इसी कारण तो कहावत प्रचलित हे "पहला सुख निरोगी काया।" यह बात इस प्ररिप्रेक्ष्य में सच साबित होती है। स्वास्थ्य जो तन, मन और आत्मा के एक सन्तुलित, अनुशासित, समन्वय का प्रतीक है, कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसे बाजार से खरीदा जा सके अथवा उधार लिया जा सके या चुराया जा सके। ये सारी बातें जानते, मानते और समझते हुए भी आज का मानव कितना स्वस्थ एवं सुखी है, प्रायः किसी से अज्ञात नहीं है। प्रत्येक मानव दीर्घायु बन आजीवन स्वस्थ रहना चाहता है, परन्तु चाहने मात्र से तो स्वास्थ्य प्राप्त नहीं हो जाता। यदि हमें स्वस्थ रहना है तो रोग पैदा करने वाले कारणों से अपने आपको दूर रखना होगा।

स्वास्थ हेतु क्षमताओं का सदुपयोग आवश्यक

स्वस्थ रहने के लिएं यह जानना आवश्यक है कि स्वास्थ्य क्या है? स्वस्थ कौन होता है? रोग क्या है? रोग क्यों, कब और किसे होता है? हमें उन सभी कारणों को जानना और समझना आवश्यक है जो प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से हमारा स्वास्थ्य बिगाड़ने में सहायक बनते हैं। हमारी रोग प्रतिरोधक क्षमता घटाते हैं। शरीर, मन और आत्मा के विकारों को बढ़ाते हैं। उनका आपसी सन्तुलन बिगाड़ते हैं, स्वस्थ रहना भी एक कला है, एक विज्ञान है, एक दृष्टि, सोच अथवा चिन्तन का प्रतिफल है जिसके लिए विवेकपूर्ण उचित ज्ञान, साधना और सम्यक् पुरूषार्थ अनिवार्य है। प्राप्त क्षमताओं का अधिकाधिक प्राथमिकता के आधार पर उपयोग कर तथा स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले विकारों से अंपने आपको बाचाकर ही हम स्वस्थ जीवन जी सकते हैं। एक तरफ तो हम चिकित्सा करें और दूसरी तरफ असंयम में रहें, इन्द्रियों में आसक्त बने रहें, तो स्वास्थ्य कैसे प्राप्त होगा? जीवन के साथ मृत्यु निश्चित है। जन्म के साथ आयुष्य के रूप में श्वास यानी प्राण ऊर्जा का जो खजाना लेकर हम

जन्म लेते हैं, वह धीरे–धीरे क्षीण होता जाता है। जीवन के अन्तिम क्षणों तक प्राण ऊर्जा के प्रवाह को संतुलित, नियन्त्रित एवं सही संचालित करके तथा उसका सही उपयोग करके ही हम शान्त, सुखी और स्वस्थ जीवन जी सकते हैं।

स्वास्थ्य की उपयोगिता का आभास रोगावस्था में

किसी वस्तु का मूल्य उसका अभाव होने पर ही पता लगता है। वस्तु का मूल्य समझे बिना उसका सदुपयोग बराबर नहीं किया जा सकता। ठीक उसी प्रकार स्वस्थ शरीर के महत्त्व का पता भी स्वास्थ्य के नष्ट हो जाने अथवा वृद्धावस्था आ जाने पर ही लगता है। संसार के सभी दुःखों का कारण अज्ञान है। इसी प्रकार सभी रोगों का कारण स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमों का पूर्ण और सही ज्ञान न होना तथा उनका उल्लंघन करना है। प्रकृति किसी भी ज्ञानी अथवा अज्ञानी को कभी क्षमा नहीं करती। प्रायः वृद्धावस्था में तो स्वास्थ्य का महत्त्व प्रत्येक मानव को अनुभव होता ही है क्योंकि, जवानी कभी लौट कर नहीं आतीं और बुढ़ापा कभी लौट कर नहीं जाता।

जीवन में स्वास्थ्य को प्राथमिकता क्यों आवश्यक?

जीवन में पद, पैसा, प्रतिष्ठा आदि का महत्त्व है, परन्तु उसकी प्राप्ति हेतु स्वास्थ्य की उपेक्षा कदापि उचित नहीं। परिवार, समाज और राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्यों का निर्वाह आवश्यक है, परन्तु स्वयं के स्वास्थ्य को गौण कर नहीं। धन से हमें अच्छे से अच्छा भोजन मिल सकता है, परन्तु भूख नहीं। दवा मिल सकती हैं, परन्तु स्वास्थ्य नहीं। भोग–विलास की वस्तुएँ मिल सकती हैं, परन्तु उनके भोगने की क्षमता नहीं। अच्छा पलंग मिल सकता है, परन्तु निद्रा नहीं। संसार के सारे वैभव एवं सम्पत्ति नष्ट होने के पश्चात् पुनः प्राप्त हो सकती है, परन्तु सवास्थ्य नष्ट हो जाने के पश्चात् उसका पुनः प्राप्त करना कठिन होता है। इसलिए योगी हो या भोगी, दोनों को अपने–अपने उद्धेश्यों की प्राप्ति के लिए स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मन की आवश्यकता होती है। मानव के सारे क्रियाकलाप शरीर के आश्रित हैं तथा शरीर के अस्तित्व में आने पर ही प्रारम्भ होते हैं तथा उसके निष्प्राण होते ही समाप्त हो जाते हैं। तभी तो उपनिषदों में कहा गया–शरीर माद्यं खलु धर्म साधनम्।

मानव की जीवन–यात्रा इस शरीर रूपी वाहन द्वारा ही सम्पन्न होती है। यदि यह वाहन अच्छा और शक्तिशाली होगा तथा जीवन–यात्रा के दौरान इसकी उचित देखभाल की जाती रहेगी एवं क्षमता से ज्यादा भार डालकर इसका दुरूपयोग नहीं किया जाएगा तो यह अपनी यात्रा निश्चित अवधि तक निर्विघ्न रूप से पूर्ण करेगा और इसमें यात्रा करने वाला मानव अधिक सुखद व लम्बी यात्रा कर सकेगा,

अन्यथा एक खटाला गाड़ी में बैठकर दुःखद व बाधापूर्ण यात्रा करनी पड़ेगी और बीच राह में ही गाड़ी के खराब हो जाने से आगे की यात्रा के लिए असमय ही नया शरीर रूपी वाहन खोजना पड़ जाएगा।

स्वास्थ्य हेतु प्राकृतिक नियमों का पालन अनिवार्य

एक साधारण से यंत्र वाहन अथवा कम्प्यूटर जैसे उपकरण से भी उचित व निर्विघ्न सेवा प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि उसके निर्माता द्वारा बतलाई हुई संचालन नियमावली (Operating Instruction) के अनुसार ही उसे चलाया जाए। नियमित उचित सफाई द्वारा उसे खराब होने से बचाया जावे ताकि उसमें वे ही तरल पदार्थ (Lubricant) डाले जाएँ जो उस उपकरण की कार्य क्षमता में अवरोधक न बन उसे सुचारू रूप से चलाने में सहायक हो। तब क्या इस दुनिया की सर्वोतम मानव शरीर रूपी मशीन से पूर्णकाल तक निर्विघ्न सेवा प्राप्त करनें के लिए, इसकी नियमानुसार देखभाल करना आवश्यक नहीं है ऐसा कैसे संभव हो सकता है? जैसे नियमित सर्विस, उत्तम श्रेणी का तेल व जल उचित मात्रा में प्रयोग करने व उसकी ट्यूनिंग भंग नहीं होने देने से कोई भी वाहन उत्तम सेवा देता है, वैसे ही उचित आहार–विहार, आचार–विचार, रहन–सहन एवं प्रकृति के साथ तालमेल रखने से यह शरीर भी स्वस्थ रहता है तथा अपनी पूर्ण अवधि तक निर्विघ्न सेवा प्रदान करता है। अतः शरीर की गर्भकाल से ही उचित देखभाल करनी चाहिए। अधिकांश प्रचलित चिकित्सा पद्धतियाँ, जितना रोगों के उपचार को महत्त्व देती है, उतना रोगों की रोकथाम को नहीं देती। स्वास्थ्य मंत्रालय का जितना बजट रोगों के उपचार का होता है, उससे शतांश भी रोगों की रोकथाम हेतु नहीं होता।

स्वास्थ्य के प्रति स्वयं की सजगता आवश्यक

शरीर, मन और आत्मा के बारे में अधिकांश व्यक्तियों को जानने, सोचने, समझने की जिज्ञासा ही नहीं होती। स्वास्थ्य के बारे में हमारी सोच पूर्णतया सही नहीं होती। क्या गलत? क्या ठीक? क्या उचित? क्या अनुचित? क्या प्राथमिक, अति आवश्यक? क्या साधारण, क्या करणीय? क्या अकरणीय? प्रत्येक तथ्य का कारण एवं मूल क्या? क्यों? कब? कितना जानने का प्रयास करें, समस्या अथवा रोग का पता लग जाएगा। शरीर क्या स्वीकार करता है और क्या नहीं, समझ में आ जाएगा।

हमारी अधिकांश गतिविधियाँ प्रायः विज्ञापन पर आधारित अन्धानुकरण की होती है। प्रायः उनके साथ मन और मस्तिष्क न जुड़ने से व्यक्ति स्वयं पर पड़ने वाले अच्छे अथवा बुरे प्रभावों की समीक्षा नहीं करता। उदाहरण के लिए प्रातःकाल

भ्रमण स्वास्थ्य के लिए अच्छा होता है परन्तु जिनके दोनों पैरों में संतुलन न हो, एक पैर बड़ा और दूसरा छोटा हो और यदि ऐसे व्यक्ति पैरों का संतुलन किए बिना घूमने लगे तो लाभ के स्थान पर हानि ज्यादा होने की सम्भावना रहती है। अतः जिस प्रवृत्ति अथवा उपचार से रोग बढ़े, उन्हें तुरन्त बन्द करना ही स्वयं की सजगता है।

अधिकांश रोग प्रायः स्वयंग की गलतियों, उपेक्षावृत्ति से उत्पन्न होते हैं। हमें क्या अच्छा लगता है और क्या बुरा लगता है, और क्यों? परन्तु जो आँखों को प्रिय लगे, कानों को प्रिय लगे, रसनेन्द्रिय को अच्छा लगे, मन आदि को अच्छा लगे, वह हमारे लिए हितकर हो यह आवश्यक नहीं। अतः सभी का सामन्जस्य आवश्यक है। हम इन्द्रियों के उन्हीं विषयों को ग्रहण करें, जो शरीर के लिए हानिकारक न हो। शरीर के साथ–साथ मन और आत्मा की शक्ति बढ़ाने वाला हो। यही तो स्वयं की सजगता होती है।

उपचार की प्रचलित विभिन्न चिकित्सा पद्धतियाँ तो मात्र भौतिक प्रक्रिया है। अच्छे चिकित्सक को उसे रोगी के अनुसार समझना होगा। जों घटना रोगी के शरीर में घटती है, उससे दोस्ती करनी पड़ेगी। रोगी के स्वंभाव एवं रूचि में परिवर्तनों का रोग से सम्बन्ध मालूम करना पड़ेगा रोगी को भी रोग का आभास होते ही अपने पिछले 48 घण्टों की गतिविधियों, गलतियों, असावधानियों अथवा स्वयं द्वारा किए गए गलत आचरण का सूक्ष्मतम विवेचन करना होगा, जिसके परिणामस्वरूप रोग के लक्षणों को शरीर में प्रकट होने हेतु प्रोत्साहन मिला। यदि रोगी इतना सजग होगा तो रोग का कारण निश्चित रूप से पता चल जाएगा। सही निदान होते ही उपचार स्वयं प्रभावशाली हो जाएगा।

स्वस्थ रहना स्वयं के हाथ

अच्छे स्वास्थ्य की चर्चा और चिन्तन करने से पूर्व हमें यह जानना और समझना आवश्यक है कि अच्छा स्वास्थ्य किसे कहते हैं? स्वास्थ्य का सम्बन्ध प्रत्यक्ष–परोक्ष किससे होता है? स्वास्थ्य बिगाड़ने वाले विविध कारण क्या हो सकते है? उनसे यथासम्भव कैसे बचा जा सकता है? क्या स्वयं के अज्ञान, अविवेक, असजगता के कारण असंयमित, असंतुलित और अप्राकृतिक हमारी जीवन शैली से तो रोग पैदा नहीं होते हैं? उनकी उपेक्षा कर दीर्घकाल तक पूर्ण स्वस्थ रहने की हमारी कल्पना, क्या आग लगाकर ठण्डक प्राप्त करने जैसी मूर्खतापूर्ण तो नहीं है? क्या हमारी श्वास अन्य व्यक्ति ले सकता है? क्या हमारा निगला हुआ भोजन दूसरा व्यक्ति पचा सकता है? क्या हमारी प्यास किसी अन्य व्यक्ति के पानी पीने से शान्त हो सकती है? क्या हमारा दर्द, पीड़ा, वेदना हमारे परिजन ले सकते है? प्रायः रोग के प्रमुख कारण रोगी की स्वयं की असावधानी से पैदा होते हैं। अपनी स्थिति से जिनता हम स्वयं परिचित होते हैं, दूसरा उतना परिचिम हो नहीं सकता। यंत्र और

रासायनिक परीक्षण तो मात्र शरीर में होने वाले भौतिक परिवर्तनों को बतलाने में तनिक सहायता कर सकते हैं। आसपास का प्रदूषित वातावरण, पर्यावरण, अशुद्ध भोजन सामग्री, पानी और वायु रोगों का कारण हो सकते हैं। परन्तु शरीर की प्रतिरोधक क्षमता ठीक हो तो बाह्यय कारण अकेले रोगग्रस्त नहीं बना सकते। जब रोग व्यक्ति के स्वयं की गलतियों से ज्यादातर पैदा होता है तो स्वास्थ्य को बनाए रखने तथा रोग होने पर रोगी की सजगता, भागीदारी, सम्यक् चिन्तन और पुरूषार्थ का सर्वाधिक महत्त्व होता है।

स्वास्थ्य क्या है?

स्वास्थ्य का मतलब है– रोग–मुक्त जीवन। स्वास्थ्य तो तन, मन और आत्मोत्साह के समन्वय का नाम है। अर्थात् शरीर, मन और आत्मा, तीनों जब ताल से ताल मिलाकर कार्य करें तथा शरीर की सारी प्रणालियाँ एवं सभी अवयव सामान्य रूप से स्वतंत्रता पूर्वक कार्य करें, किसी के भी कार्य में कोई अवरोध अथवा आलस्य न हो और न उनको चलाने के लिए किसी बाहरी वस्तु की आवश्यकता पड़े। शरीर का तंत्र अपनी क्षमताओं का पूर्ण उपयोग से कार्य करे, मन का चिन्तन और आचारण सम्यक् हो, अर्थात् मन में बेचैनी न हो, सारे अंग और क्रियाएं सनतुलित हो, असन्तुलित न हों। सारी प्रवृत्तियाँ सहज और स्वाभाविक हो, अस्वाभाविक न हो। अर्थात् जिसका पाचन और श्वसन बराबर हो, नियमित हों, सन्तुलित हो। अनुपयोगी अनावश्यक विजातीय तत्त्वों का निष्कासन सही हो। भूख प्राकृतिक लगती हो। निद्रा स्वाभाविक आती हो। पसीना गन्धहीन हो, त्वचा मुलायम हो, बदन गठीला, कमर सीधी हो, खिला हुआ चेहरा एवं आँखों में चमक हो। नाड़ी मज्जा, अस्थि, प्रजनन एवं लसिका आदि सभी तन्त्र शक्तिशाली हों तथा अपना कार्य पूर्ण क्षमता से करने में सक्षम हो। जो आत्म विश्वासी, दृढ़ मनोबली, सहनशील, धैर्यवान, निर्भय, तनाव व चिन्ता मुक्त, साहसी और जीवन के प्रति उत्साही हो, जिसके मन में शान्ति हो, सरलता हो। जिसका स्वचिन्तन, प्रज्ञा और स्वविवेक जागृत हो तथा जिसका मन और इन्द्रियों पर पूर्ण नियन्त्रण हो, विचारों में पूर्वाग्रह न हो, सत्य के प्रति समर्पित हो, जो पूर्ण अहिंसक हो, स्वावलम्बी हो। जो निस्पृही तथा निरहंकारी हो। जिसकी प्राथमिकताएँ एवं लक्ष्य क्षमताओं के अनुरूप सम्यक् हों तथा जो प्राकृतिक सनातन नियमों का पलन करता हो। जिसके सारे कार्य समय पर होते हों तथा जीवन नियमबद्ध हो। वास्तव में पूर्ण स्वस्थता के मापदण्ड तो यही हैं। जितने–जितने अंशों में उपर्युक्त तथ्यों की प्राप्ति होगी उसी अनुपात में, सही स्वरूप में, हम स्वस्थता के समीप होंगे, इसके विपरीत स्थिति पैदा होने पर अपने आपको स्वस्थ मानना अथवा स्वस्थ बनाने का दावा करना न्याय संगत नहीं।

वस्तुतः स्वस्थ कौन ?

स्वस्थ का अर्थ होता है, स्व में स्थित हो जाना। अर्थात् स्वयं पर नियंत्रण, अनुशासन अथवा पूर्ण स्वावलम्बन। अपने स्वभाव में रहना। अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनों परिस्थितियों में समभाव बनाएं रखना, सन्तुलित रहना, राग और द्वेष से परे हो जाना। ऐसी अवस्था में शरीर निरोग, मन निर्मल, विचार पवित्र और आत्मा शुद्ध हो जाती है। स्व का मतलब आत्मा है। अतः आध्यात्मिक दृष्टि में आत्म स्वभाव में रहने वाला ही स्व में स्थित अर्थात् स्वस्थ होता है।

पेट नरम, पैर गरम और सिर ठण्डा अच्छे स्वास्थ्य के सूचक

सभी प्रकार के रोगों की अभिव्यक्ति शरीर में विभिन्न असंतुलनों के रूप में प्रकट होती है। एक महत्त्वपूर्ण लोकोक्ति प्रचलित है – "पेट नरम, पैर गरम और सिर ठण्डा, फिर डाक्टर आवे तो मारो डण्डा" कितनी यथार्थपूर्ण है। जो शारीरिक श्रम करेगा उसकी पगतली कभी ठण्डी नहीं होती है। जिसका पाचन सही रहेगा और अवांछित तत्त्वों का शरीर से निष्कासन बराबर होगा, उसका पेट नरम, स्वच्छ होगा। इसलिए तो कहा गया है– "पेट साफ तो सब रोग माफ।" इसी प्रकार जो तनाव–मुक्त होगा, चिन्ता–मुक्त होगा ओर मस्त रहेगा उसका सिर ठण्डा रहेगा। अर्थात् शारीरिक श्रम, सुव्यवस्थित पाचन एवं तनाव मुक्त अनासक्त जीवन शैली स्वास्थ्य का आधार होता है। जिस प्रकार खेत में बीज बोने से पूर्व उसकी सफाई आवश्यक है। फूटे हुऐ घड़े को भरने से पहले छिद्र को बन्द करना जरूरी है। तालाब को खाली करने से पहले उसमें आते हुए पानी को रोकना आवश्यक है, ठीक उसी प्रकार उपचार से पूर्व रोग के कारणों से बचना आवश्यक है।

स्वास्थ्य के लिए स्वयं का संयम और सम्यक् पुरूषार्थ आवश्यक

रोग होने के कारणों को मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम तो स्वयं से सम्बन्धित और दूसरा अन्य बाह्यय वातावरण अथवा परिस्थितियों से संबंधित। जो रोग स्वयं से सम्बन्धित होता है, उसका उपचार तो स्वयं के द्वारा ही सम्भव होता है। परावलम्बन बन्धन है, फिर वह चाहे डाक्टर का हो या दवा का। स्वयं के द्वारा स्वयं की चिकित्सा करने की विधि को ही स्वावलम्बी चिकित्सा कहते है। अतः व्यक्ति के स्वयं पर निर्भर करता है कि वह रोग–ग्रस्त जीवन जीना चाहता है या स्वस्थ जीवन। चाहने मात्र से तो स्वास्थ्य नहीं मिलता अपितु स्वस्थ जीवन जीने के लिए सजगता, नियमितता सम्यक् पुरूषार्थ आवश्यक है।

जीवन के लिए भोजन, पानी, हवा, धूप जैसी प्राकृतिक ऊर्जाओं का आलम्बन, सहयोग आवश्यक होता है। शारीरिक प्रक्रियाओं को चलाने, शरीर के अवयवों को बनाने में दवा का उपयोग अथवा बाह्यय साधनों पर निर्भर रहना परावलम्बनता है। स्वावलम्बन स्वास्थ्य का प्रतीक है तो परावलम्बन रोग का सूचक। स्वावलम्बन का आधार होता है–सम्यक् ज्ञान, सम्यक् श्रृद्धा व सम्यक् आचरण। प्राथमिकताओं और लक्ष्य का सही चयन, क्षमता और आवश्यकताओं का सही सन्तुलन एवं समन्वय। अतः जो चिकित्सा पद्धतियाँ व्यक्ति को जितना जितना स्वावलम्बी बनाने में सक्षम होती हैं वे उतनी अधिक उपयोगी एवं प्रभावशाली होती हैं। उपचार स्थायी और दुष्प्रभावों से रहित होता है। आज सबसे बड़ी समस्या अपने आप पर अनास्था की है। अपनी क्षमताओं से अनभिज्ञता की है। हमारे चिन्तन, सोच का समस्त आधार भीड़, विज्ञापन, अन्धानुकरण, बाह्यय वातावरण होता है न कि स्वविवेक, सम्यक् चिन्तन। हम भूल जाते हैं कि करोड़ों सूर्यों की अपेक्षा व्यक्ति के लिए आँख का महत्त्व अधिक है।

आरोग्य दो प्रकार के होते हैं। 1) स्वाभाविक 2) कृत्रिम। प्रकृति के नियमों का पालन कर जो आरोग्य प्राप्त किया जाता है वह स्थायी एवं स्वाभाविक होता है। रोगग्रस्त बनने के पश्चात् दवा एवं चिकित्सकों की सहायता और परामर्श से प्राप्त आरोग्य कृत्रिम व अस्थायी होता है।

शक्ति बिना स्वास्थ्य नहीं

स्वास्थ्य का आधार होता है ऊर्जा, शक्ति, ताकत, बल आदि। शक्ति और स्वास्थ्य को कभी अलग नहीं किया जा सकता। कमजोर आदमी कभी शान्ति का अनुभव नहीं कर सकता। यदि हमारा शरीर, मन और भावना के स्तर पर कमजोर है ओर हम शान्ति की कामना करें तो यह कभी सम्भव नहीं हो सकता। जिसके ये तंत्र कमजोर हैं वह जरा–सी प्रतिकूलता में विचलित हो जाएगा।

शान्ति की पहली शर्त है–शक्ति का विकास। हम शक्तिशाली बनें, अपनी शक्ति का विकास करें। क्रम से चलें। पहले स्तर पर है– आत्मिक शक्ति का विकास। दूसरे स्तर पर है–मानसिक शक्ति या मनोबल का विकास और तीसरे स्तर पर है–शरीरिक शक्ति का विकास। शरीर में भी ज्ञान, नाड़ी आदि सभी तंत्र भी मजबूत होने चाहिए। शारीरिक शक्ति का मतलब शारीरिक सौष्ठव नहीं है। बहुत वजन उठा लेना या कुश्ती में जीतना ही नहीं है। शारीरिक शक्ति के विकास का अर्थ नाड़ी, ग्रन्थि, ज्ञान तंत्र, मस्तिष्क, मेरूदण्ड आदि का मजबूत होना है। यह सभी शक्तियां जिसमें विकसित होती है, उसे शक्तिशाली कहते हैं। आत्मिक विकास, मनोबल का विकास और शारिरिक विकास, इन तीनों का समन्वय ही शान्ति का आधार है। युद्ध में हजारों योद्धाओं को जीतने वाला वीर अपने इन्द्रियों और मन के

विकारों से क्यों परास्त हो जाता है? परन्तु हम जितनी चिन्ता शरीर की करते हैं, उतनी जो देखने वाली, जानने वाली, समझने वाली, उसको चलाने वाली आत्मा की प्रायः नहीं करते।

आरोग्य एवं निरोगता में अन्तर

निरोग का मतलब शरीर रोग उत्पन्न ही न हो जबकि आरोग्य का मतलब शरीर में रोगों की उपस्थिति होते हुए भी हमें इनकी पीड़ा और दुष्प्रभावों का अनुभव न हो। आज हमारा सारा प्रयास प्रायः आरोग्य रहने तक ही सीमित हो गया है। आज हम मात्र शारीरिक रोगों को ही रोग मान रहे हैं। चेतनाशील प्राणी को ही रोग की अनुभूति होती है। मृत्यु के पश्चात् निर्जीव शरीर अथवा जड़ या अचेतन अवस्था में रोग की अनुभूति नहीं होती। जीव, आत्मा का पर्यायवाची शब्द हैं। आत्मा की अशुद्ध अवस्था अथवा विभाव दशा ही रोग का प्रतीक है। आत्मा के बिना न तो शरीर का अस्तित्व होता है, न मन व वाणी ही चेतना की अभिव्यक्ति के माध्यम होते हैं। अतः जब तक आत्मा अपनी शुद्धावस्था को प्राप्त नहीं होगी, हम किसी न किसी रोग से अवश्य पीड़ित होंगे अर्थात् निरोग नहीं बन सकते।

आत्मिक रोग शारीरिक और मानसिक रोगों से ज्यादा खतरनाक हैं, जो हमें जन्म–मरण एवं विभिन्न योनियों में भटकाने वाले हैं। शारीरिक रूप से भी निरोग बनाना प्रायः असम्भव लगता है। रोग चाहे शारीरिक हो, चाहे मानसिक अथवा आत्मिक, उसका प्रभाव तो शरीर पर ही होगा। अभिव्यक्ति तो शरीर के माध्येम से ही होगी, क्योंकि आत्मा तो अरूपी है और मन को भी हम अपने चर्म चक्षुओं द्वारा देखनें (मानसिक), व्याधि (शारीरिक), उपाधि (कर्म–जन्य) के रूप में ही प्रकट होते हैं। अतः आधि, व्याधि और उपाधि का शमन करने से ही समाधि, स्वस्थता एवं परम शान्ति अर्थात् निरोग अवस्था की प्राप्ति हो सकती है।

शारीरिक दृष्टि से निरोग रहने के लिए आवश्यक है कि यथा–सम्भव प्राकृतिक नियमों का पालन किया जाए। शुद्ध हवा, शुद्ध पानी, शुद्ध सात्विक एवं पौष्टिक आहार उचित मात्रा में आवश्यकतानुसार पाचन के नियमानुसार उचित समय ग्रहण किया जाए। नियमित धूप का सेवन किया जाए तथा व्यायाम, आराम, निद्रा का ध्यान रखा जाए। नियमित स्वाध्याय, ध्यान, मौन, उपवास, इन्द्रिय संयम, प्राणायाम किया जाए तथा तनाव के कारणों से यथासम्भव बचा जाए। शारीरिक क्षमता के अनुरूप ही श्रम किया जाए तथा मल और पेशाब आदि शरीर के विकारों का विसर्जन करने वाली प्रक्रियाओं को न रोका जाएं इन नियमों की उपेक्ष कर अपने आपको निरोग रखने की कल्पना आग लगाकर ठण्डक प्राप्त करने के समान होगी। जैसे "फूटे घड़े को सात समुद्रों का पानी भी भरा हुआ नहीं रख सकता" ठीक इसी प्रकार रोग के कारणों से बच कर अथवा दूर किए बिना कोई भी चिकित्सा पद्धति मानव शरीर को भी पूर्णरूपेण निरोग नहीं रख सकती।

अध्याय – 2

जानिए अपने शरीर की विशेषताएँ

मानव जीवन अमूल्य

मानव शरीर की संरचना विश्व का एक अद्भुत आश्चर्य है। उसके रहस्य को दुनिया का बड़े से बड़ा डाक्टर और वैज्ञानिक पूर्ण रूप से समझने में असमर्थ है। मस्तिष्क जैसा सुपर कम्प्यूटर, हृदय एवं गुर्दे जैसा रक्त शुद्धिकरण-यंत्र, आमाशय, तिल्ली, लीवर जैसा रासायनिक कारखाना, आँख के समान कैमरा, कान के समान श्रवण यंत्र, जीभ के समान वाणी एवं स्वाद-यंत्र, लिम्फ प्रणाली जैसी नगर निगम के समान सफाई व्यवस्था, नाड़ी तंत्र के समान मीलों लंबी संचार व्यवस्था, अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के समान सन्तुलित, नियंत्रित, संयमित, न्यायिक, प्रशासनिक व्यवस्था, अवांछित तत्त्वों के विसर्जन की व्यवस्था, प्रकाश से भी तेज गति वाला मन इत्यादि अन्यत्र निर्मित उपकरणों अथवा अन्य चेतनाशील प्राणियों में एक साथ मिलना असम्भव है। शरीर के ऊपर त्वचा न होती तो कैसी स्थिति होती? क्या हमने कभी कल्पना की?

शरीर अपने लिए आवश्यक रक्त, माँस, मज्जा, हड्डियाँ, वीर्य आदि तत्त्वों का निर्माण चेतना के सहयोग से स्वयं करता है, जिसे अन्यत्र प्रयोगशालाओं में बनाना अभी तक सम्भव नहीं हुआ है। हमारे शरीर में पसीने द्वारा त्वचा के छिद्रों से पानी तो आसानी से बाहर आ सकता है, परन्तु पानी में त्वचा को रखने से, उन छिद्रों से पानी भीतर नहीं जा सकता। प्रत्येक शरीर का कुछ न कुछ वजन होता है, परन्तु चलते–फिरते शायद ही किसी को अपना वजन अनुभव होता है। हमारे शरीर का तापक्रम साधारणतया: 98.4 डिग्री फारेनाइट होता है, भले ही बाहर कितनी ही सर्दी अथवा गर्मी क्यों न हो? चाहे, बर्फीले दक्षिणी अथवा उत्तरी ध्रुव पर जावे अथवा गर्मी में सहारा मरूस्थल जैसे गर्म स्थानों पर, शरीर का तापक्रम 98.4 डिग्री फारेहनाइट ही रहता है। हम देखते हैं जब कभी आँधी या तेज हवाएँ चलती हैं, तब हल्के पदार्थ एक स्थान से दूसरे स्थान पर उड़कर चले जाते हैं। परन्तु हलन–चलन,

उठने–बैठने एवं दौड़ने के बवाजूद शरीर की कोई भी नाड़ी अपना स्थान नहीं छोड़ती। यदि हम शीर्षासन करें तो हृदय अपना स्थान नहीं छोड़ता। शरीर के सभी अंग, उपांग, नाड़ियाँ, हड्डियाँ, हलन, चलन के बावजूद कैसे अपने स्थान पर स्थिर रहते हैं? वास्तव में आश्चर्य है।

शारीरिक क्षमताओं का दुरूपयोग अनुचित

यदि कोई लाखों रूपए के बदले आपके शरीर का कोई अंग, उपांग अथवा इन्द्रियाँ आदि लेना चाहे तो यथा–सम्भव कोई व्यक्ति नहीं देना चाहेगा। क्योंकि पैसों से उन अंगों को पुनः प्राप्त नहीं किया जा सकता। यहाँ तक लाखों रूपयों के बदले यदि आपको 15 मिनट श्वास रोकने का आग्रह करे तो क्या आप ऐसा करना चाहेंगे? नहीं! कदापि नहीं। मृत्यु के पश्चात् उस पैसे का क्या उपयोग? क्या हमने कभी सोचा कि ऐसी अमूल्य श्वांस से जो हमें प्रतिक्षण निःशुल्क मिल रही है, उसे हम बराबर तो ले रहें हैं अथवा नहीं? इतने अमूल्य मानव जीवन का उपयोग हम कैसे कर रहे हैं? यदि कोई रूपयों के नोटों के बण्डल को चाय बनाने के लिए ईंधन के लिए जलाए तो हम उसे मूर्ख अथवा पागल कहते हैं। तब इस अमूल्य मानव जीवन की क्षमताओं का दुरूपयोग अथवा अपव्यय करने वालों को क्या कहा जाए? बुद्धिमान व्यक्ति के लिए चिन्तन का प्रश्न है? कहीं हमारा अचारण अरबपति बाप के भिखारी बेटे जैसा तो नहीं, जो अपने पास अपार सम्पत्ति होते हुए भी अपने आपको भिखारी, गरीब, दरिद्र मान दर–दर भीख मांग रहा है? उसी प्रकार जिस शरीर में इतने अमूल्य उपकरण हो, उस शरीर में अपने आपको स्वस्थ रखने की व्यवस्था न हो, कैसे सम्भव है?

जरा चिन्तन करें, कहीं मानव जीवन रूपी दुनिया की सर्वश्रेष्ठ गाड़ी हमारी स्वछन्द मनोवृत्तियों रूपी अनाड़ी ड्राइवर के हाथों में तो नहीं है? पेट्रोल की गाड़ी को केरोसिन से कब तक ढंग से चलाया जा सकता है। ठीक उसी प्रकार जीवन में सद्‌गुणों रूपी ऊर्जा के रूप में उपलब्ध सनातन सिद्धान्तों पर आधारित प्राकृतिक जीवन शैली रूपी पेट्रोल के स्थान पर दुर्गुणों और अप्राकृतिक जीवन जी–कर कैसे स्वस्थ रहा जा सकता है? चिन्तन का प्रश्न है।

शरीर में रोग प्रतिरोधक क्षमता होती है

प्रत्येक अच्छे स्वचालित यंत्र में खतरा उपस्थित होने पर स्वतः उसको ठीक करने की व्यवस्था प्रायः होती है। जैसे बिजली के उपकरणों के साथ ओवरलोड, शार्ट सर्किट, अर्थ फाल्ट आदि से सुरक्षा हेतु फ्यूज, रीलें आदि। प्रत्येक वाहन में ब्रेक होता है ताकि आवश्यकता पड़ने पर वाहन की गति को नियन्त्रित किया जा सके। ठीक उसी प्रकार मनुष्य शरीर में दुनिया की सर्वश्रेष्ठ स्वचालित, स्वनियंत्रित मशीन में रोगों से बचने की सुरक्षात्मक व्यवस्था न हो तथा रोग होने

की अवस्था में पुनः स्वस्थ बनाने की व्यवस्था न हो कैसे सम्भव हो सकता है? आवश्यकता है, हमें अपनी क्षमताओं को जानने, समझने की तथा स्वविवेक, धैर्य, सहनशीलता एवं सद्‌बुद्धि द्वारा उसका सही उपयोग करने की। हम जानते हैं कि स्वचलित उपकरणों में जितनी ज्यादा अनावश्यक छेड़छाड़ की जाती है उतनी ही उसके खराब होने की सभावनाएँ बढ़ जाती हैं।

हम देखते हैं जब किसी व्यक्ति की हड्‌डी अपना स्थान छोड़ देती हैं, तो डाक्टर उसको ठीक स्थान पर पुनः स्थित कर छोड़ देता है। जोड़ने का कार्य तो शरीर स्वयं ही करता है। शरीर अपने लिए आवश्यक रक्त का निर्माण स्वयं करता है। आज तक अति आधुनिक प्रयोगशालाओं में भी शरीर के आवश्यक तत्त्वों का निर्माण सम्भव नहीं हो सका। माँ के गर्भ में जब बच्चे का विकास होता है तो पूरे शरीर का निर्माण स्वयं शरीर के द्वारा होता है। ये सभी तथ्य हमें सोचने अथवा चिन्तन करने के लिए प्रेरित करते हैं कि शरीर में स्वयं को स्वस्थ रखने की क्षमता अवश्य होनी चाहिए।

दुनिया में असंख्य जाति के जीव हैं। चेतनाशील प्राणियों में मानव का प्रतिशत तो 0.1 प्रतिशत से भी कम है। 99.9 प्रतिशत जीव अपना सहज जीवन जीते हैं। उन्हें किसी भी प्रकार की चिकित्सा पद्धति का न तो कोई ज्ञान होता है और न उन्हें अनुभवी चिकित्सकों का परामर्श अथवा सान्निध्य ही मिलता है। सम्पूर्ण मानव जाति तक भी आज की चिकित्सा सुविधाएं उपलब्ध नहीं हैं। फिर भी अनादिकाल से जीवन अबाध गति से चल रहा है। कभी–कभी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष कारणों से उपचार न करवा सकने के बावजूद कुछ समय पश्चात् रोग स्वतः ठीक हो जाता है। इसके विपरीत बहुत से रोगी अनुभव चिकित्सकों से उपचार करवाने के बावजूद रोग–मुक्त नहीं होते। यंत्र और रासायनिक परीक्षण करवाने के बावजूद रोग–मुक्त नहीं होते। यंत्र और रासायनिक परीक्षण रोग के कारणों का सही निदान नहीं कर सकते। क्योंकि उनके पास अभी तक तनाव, चिन्ता, दुःख, दर्द, पीड़ा, वेदना, संवदेना, आवेग आदि मानसिक रोगों को मापने का साधन नहीं है और वे ही रोग के मूल कारण होते हैं।

सजग व्यक्तियों को अपने रोग के कारणों की जितनी सूक्ष्मतम जानकारी होती हैं उतनी किसी भी चिकित्सक को नहीं हो सकती। शरीर में हजारों रोग होते हैं, जिन्हें रोगी अभिव्यक्त नहीं कर सकता। जितने रोगों को अभिव्यक्त कर सकता है, वे सभी यंत्रों और रासायनिक परीक्षणों की पकड़ में नहीं आ सकते। जो उनकी पकड़ में आ जाते हैं, उनको सभी डाक्टर समझ नहीं सकते। सभी अपना अलग–अलग निष्कर्ष निकाल निदान करते हैं। अतः दवाओं द्वारा उपचार आंशिक ही होता है। इसी कारण बहुत से व्यक्ति उपचार करवाने के बावजूद पुनः स्वस्थ नहीं होते, जबकि चन्द रोगी बिना उपचार-करवाए, प्राकृतिक नियमों का पालन कर

स्वतः स्वस्थ हो जाते हैं। शरीर में रोग के अनुकूल दवा बनाने की क्षमता होती है और यदि उन क्षमताओं को बिना किसी बाह्यय दवा के विकसित कर दिया जाए तो उपचार अधिक प्रभावशाली, स्थायी एवं भविष्य में पड़ने वाले दुष्प्रभावों से रहित होता है। दवा और चिकित्सक तो मात्र मार्गदर्शक अथवा सहायक की भूमिका निभा सकते हैं। अतः स्वस्थ रहने के लिए स्वयं की सजगता, भागीदारी, जीवन चर्या एवं गतिविधियों पर पूर्ण संयम, अनुशासन और नियंत्रण आवश्यक है। अच्छे से अच्छा अनुभवी चिकित्सक और दवा उसके बिना रोगी को ठीक नहीं रख सकते। पीड़ा में राहत मिलना मात्र रोग का सम्पूर्ण उपचार नहीं होता। स्वास्थ के प्रति अन्तर सजगता व्यक्ति की पहली चिकित्सा है।

क्या मानव कभी चिन्तन करता है कि मनुष्य के अलावा अन्य चेतनाशील प्राणी अपने आपको कैसे स्वस्थ रखते हैं? क्या स्वस्थ रहने का ठेका दवा और डाक्टरों के सम्पर्क में रहने वालों ने ही ले रखा है? चिकित्सा विज्ञान में इतने विकास के बावजूद रोग और रोगियों की संख्या में निरन्तर वृद्धि क्यों हो रही है? वास्तव में इस बात पर विश्वास करना होगा कि शरीर ही अपने आपको स्वस्थ रख सकता है। अच्छी से अच्छी दवा और चिकित्सक तो शरीर को अपना कार्य स्वयं करने में सहयोग मात्र देते हैं। जिसका शरीर सहयोग करेगा, वही स्वस्थ होगा। यही सोच, स्वास्थ्य प्राप्त करने का मूलाधार है।

पूर्ण शरीर को एक इकाई मानना आवश्यक

आज हमने उपचार हेतु शरीर को कई टुकड़ों में बांट दिया है। जैसे एक अंग का दूसरे किसी अंग से सम्बन्ध ही न हो। आँख का डाक्टर अलग, कान, नाक, गला, दांत, हृदय, फेफड़ा, गुर्दा, मस्तिष्क आदि सभी के विशेषज्ञ डाक्टर अलग–अलग होता हैं। उपचार करते समय जब तक पूर्ण शरीर मन व आत्मा को एक इकाई के रूप में स्वीकार न किया जाएगा, तब तक स्थायी प्रभावशाली उपचार एक कल्पना मात्र होगी। आँखों का डाक्टर भौतिक आँखों एवं कान का डाक्टर भौतिक कान तक सीमित रह उस पर गहनतम शोध में व्यस्त हैं। उसकी चेतना के मूल स्रोत पर उसका नियंत्रण नहीं है। चींटी और कुत्ते की घ्राणेन्द्रिय (सूंघने की शक्ति) इतनी तीक्ष्ण क्यों होती है? गिद्ध की दृष्टि जैसी प्रत्येक मानव की दृष्टि क्यों नहीं होती? कोयल जैसी मधुरता प्रत्येक व्यक्ति की वाणी में क्यों नहीं विकसित होती? जब आँख बैठे–बैठे अप्रत्यक्ष दृश्यों का स्मरण होते ही पूर्व में देखे गए दृश्यों को बन्द आँखों से देख सकती है, तो क्या उन दृश्यों से पड़ने वाले अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव आँखों को प्रभावित नहीं करेंगे? आँख, कान अथवा शरीर का सूक्ष्म से सूक्ष्म भाग अथवा इन्द्रियाँ मात्र भौतिक उपकरण या पदार्थ ही नहीं हैं, परन्तु उसके साथ जीवन्त चेतना, संवेदनाएँ, और मन की स्मृति, कल्पानाएँ, अनुभूति आदि भी जुड़े हैं, उसके ज्ञान के बिना आँख और कान जैसे शरीर के किसी भी भाग की सूक्ष्मतम जानकारी अधूरी ही होती है।

अध्याय — 3

शारीरिक रोगों के कारण

रोग क्या है ?

उपचार से पूर्व यह जानना और समझना आवश्यक है कि रोग क्या है? रोग क्यों, कब और कैसे होता है? उसके प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष कारण कया हैं? शरीर की रोग प्रतिकारात्मक शक्ति कैसे बढ़ती है? और क्यों कम होती है? उसके सहायक और विरोधी तत्त्व क्या हैं? क्या शारीरिक रोगों का मन, विचार, भाव, वाणी अथवा आत्मा से प्रत्यक्ष–परोक्ष सम्बन्ध है? क्या उपचार करते समय उनसे संबंधित कारणों को प्राथमिकता दी जाती है? क्या उन कारणों की उपेक्षा तो नहीं होती अथवा उपचार मन और आत्मा के विकारों को बढ़ाने वाला तो नहीं है? अर्थात् उपचार हेतु उपयोग में लिए जाने वाले साधन, सामग्री कितने पवित्र हैं? रोगी का आचरण और जीवन–चर्या प्रकृति के सनातन सिद्धान्तों और नियमों के प्रतिकूल तो नहीं है?

रोग का मतलब शरीर में विकारों, दोषों, विजातीय अथवा अनुपयोगी तत्त्वों का जमा होकर, शरीर के विभिन्न तन्त्रों के स्वचालित, स्वनियंत्रित कार्यों में अवरोधा अथवा असन्तुलन उत्पन्न करना है। वास्तव में प्राकृतिक सनातन नियमों का जाने–अनजाने वर्तमान अथवा भूतकाल में उल्लंघन करना अर्थात् असंयमित, अनियंत्रित, अविवेकपूर्ण स्वछन्द आचारण के द्वारा जो शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक क्षमताओं का अपव्यय, दुरूपयोग करने से, जो विकार उत्पन्न हो, असंतुलन की जो स्थिति बनती है, वही रोग है। ऐसी परिस्थिति में शरीर एवं मन की सभी क्रियाएँ, अंग, उपांग, इन्द्रियां, तंत्र, अवयव आदि अपना अपना कार्य स्वतंत्रता पूर्वक सामान्य रूप से नहीं कर पाते। फलतः शरीर, मन और आत्मा के अवांछित, विजातीय, अनुपयोगी विकारों का विसर्जन बराबर नहीं होता। उनमें अवरोध उत्पन्न होने से पीड़ा, दर्द, वेदना, जलन, सूजन, विघटन, चेतना की शून्यता, तनाव, बेचैनी, भय, चिन्ता, अधीरता, असजगता, गलत दृष्टिकोण व चिन्तन, जीवन के प्रति निराशा आदि के जो लक्षण प्रकट होते हैं, वही मिलकर एक रोग कहलाते हैं।

रोगों के प्रकार

रोगों को मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। 1) उत्तेजक 2) शान्त।

उत्तेजक रोग

ऐसे रोग जिनकी तरफ हमारा ध्यान शीघ्र जाता है। वे हमारी सहनशीलता को प्रभावित करते हैं और वाणी द्वारा उससे पड़ने वाले प्रभावों की अभिव्यक्ति पहले होती है। जैसे दर्द, चक्कर, बैचेनी, उल्टी, दस्त, पसीना आदि। ऐसे रोगों का प्रायः समय पर उपचार हो जाता है, अतः अपेक्षाकृत कम हानिकारक होते हैं।

शान्त रोग

ऐसे रोग जिसकी तरफ रोगी का ध्यान तुरन्त नहीं जाता और न रोगी के लिए असहनीय ही होता है। जिनका सम्बन्ध प्रायः शारीरिक, मानसिक और आत्मिक क्षमताओं के अभाव से होता है। जैसे आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियों का पूर्ण विकसित न होना, शारीरिक अवयवों के अनुपात में असन्तुलन अथवा उनमें रासायनिक परिवर्तनों से विकारों का उत्पन्न होना इत्यादि। ऐसे रोगों की उपेक्षा के कारण ही भविष्य में असाध्य रोगों के होने की सम्भावना होती है, अतः ये ज्यादा खतरनाक होते हैं। अधिकांश आत्मिक और मानसिक विकारों से सम्बन्धित होने वाले रोग तथा शरीर में अभिव्यक्त न होने वाले प्रत्यक्ष अथवा सहयोगी रोग इसी श्रेणी में आते हैं, जिन्हें हम रोग के रूप में स्वीकार नहीं करते।

विकार रोग का सूचक है

स्वास्थ्य का अर्थ है– विकार मुक्त अवस्था। रोग का तात्पर्य विकारयुक्त अवस्था यानी "जितने ज्यादा विकार उतने ज्यादा रोग।" जितने विकार कम उतना ही स्वास्थ्य अच्छा। विकार का मतलब अनुपयोगी, अनावश्यक, व्यर्थ, विजातीय तत्त्व हैं। जब ये विकार शरीर में होते हैं तो शरीर रोगी बन जाता है। परन्तु जब ये विकार मन, भावों और आत्मा में होते हैं तो क्रमशः मन, भाव और आत्मा विकारी अथवा अस्वस्थ कहलाती है। विकारी अवस्था का मतलब है विभाव दशा अथवा विपरीत स्थिति। जितने–जितने विकार उतनी–उतनी विभाव दशा।

शारीरिक विकार के प्रभाव से शरीर के अंग, उपांग, अवयव, ग्रन्थियाँ, मस्तिष्क, इन्द्रियाँ आदि अपने निर्धारित कार्य करने हेतु असजग, असन्तुलित, अथवा निष्क्रिय होने लगती हैं जिससे शरीर में अनुपयोगी, अनावश्यक, विजातीय तत्त्व जमा होने लगते हैं। परिणामस्वरूप शरीर की स्वचालित स्वनियंत्रित प्रक्रिया में अवरोध और असन्तुलन होने लगता है। जो जनसाधारण की भाषा में रोग कहलाता है। फलतः शरीर में दर्द, पीड़ा, बेचैनी, तनाव, चिड़चिड़ापन, भय, अधीरता, निष्क्रियता,

कमजोरी, दुर्बलता, चेतना की शून्यता आदि के लक्षण प्रकट होने लगते हैं।

मानसिक विकारों के परिणामस्वरूप मन स्वछन्द और अनियंत्रित होने लगता है। चिन्तन और मनन गलत दिशा में होने लगता है। क्योंकि व्यक्ति अपने मनोबल एवं मानसिक क्षमताओं का अवमूल्यन करने लगता है। उसकी प्राथमिकताएँ समस्याओं के स्थायी व प्रभावशाली समाधानों पर न होकर तत्कालीन अनुकूलताओं पर आधारित होने लगती हैं।

विभाव अवस्था रोग है

जैसा कि पूर्व में बतलाया गया है कि "स्वास्थ्य का मतलब है स्व में स्थित हो जाना अर्थात् अपने निज स्वरूप में आ जाना अथवा विभाव अवस्था से निज स्वभाव में आ जाना। जैसे अग्नि के सम्पर्क से पानी उबलने लगता हैं परन्तु जैसे ही पानी को अग्नि से अलग करते हैं, गर्मी नहीं। पानी को वातावरण के अनुरूप रखने के लिए किसी बाह्यय आलम्बन की आवश्यकता नहीं होती। उसी प्रकार शरीर में हड्डियों का स्वभाव कठोरता है, परन्तु किसी कारणवश कोई हड्डी नरम हो जाए उसमें लचीलापन आ जाए तो रोग का कारण बन जाती है। मांस–पेशियों का स्वभाव लचीलापन है परन्तु उसमें किसी कारणवश कठोरता आ जाए, गांठ हो जाए अथवा विजातीय तत्त्वों के जमाव के कारण अथवा आवश्यक रसायनों के अभाव के कारण यदि शरीर के किसी भाग की मांसपेशियों में लचीलापन समाप्त हो जाए अथवा क्षमतानुसार न हो तो रोग का कारण बन जाती है। शरीर का तापक्रम 98.4 डिग्री फारेनहाइट रहना चाहिए, परन्तु किसी कारणवश कम या ज्यादा जो जाए तो शरीर में रोग के लक्षण प्रकट हो जाते हैं। रक्त सारे शरीर में आवश्यकतानुसार ऊर्जा पहुँचाने का कार्य अबाध गति से करता है। अतः उसके सन्तुलित प्रवाह हेतु आवश्यक गर्मी एवं निश्चित दबाब आवश्यक होता है, परन्तु यदि हमारी अप्राकृतिक जीवन शैली से रक्त का बराबर निर्माण न हो अथवा दबाब आवश्यकता से कम या ज्याद्दा हो जाए तो सारे शरीर में प्राण ऊर्जा का वितरण प्रभावित हो जाता है। रक्त नलिकाओं के फैलने अथवा सिकुड़ने की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं अर्थात् अपना स्वरूप बदल देती हैं अतः रोग की स्थिति पैदा हो जाती है।"

इसी प्रकार प्रत्येक जाति के जीवों में शरीर के सभी अंगों एवं उपांगों का आकार निश्चित होता है परन्तु वैसा न हो। विकास जिस अनुपात अथवा अवस्था में होना चाहिए उस अनुपात और अवस्था में न हो। जैसे शरीर बेढंगा हो, शरीर में विकलांगता हो, बौनापन हो, गंजापन हो आदि विकृतियाँ हों, आँखों में अन्धता अथवा दृष्टि कमजोर हो, कान से कम सुनाई देता हो, मुँह से वाणी का उच्चारण बराबर न हो वाणी सम्बन्धी दोष हो आदि सारी शरीर की विभाव दशाएँ हैं। अतः ये रोग की प्रतीक हैं। वृद्धावस्था के पूर्व ही बाल सफेद हो जाएँ दांत गिर जाएँ, त्वचा पर

झुर्रिया पड़ जाएँ, इन्द्रिया, मन, अंग, उपांग अशक्त हो जाएँ, बालक में चंचलता न हो, युवावस्था में जोश न हो, उत्साह न हो, बचपन में भी स्मरण शक्ति अच्छी न हो आदि सभी कारण शरीर की विभाव दशा होने के परिणामस्वरूप रोग के कारक बनते हैं।

शरीर का गुण है कि-जो अंग और उपांग शरीर के जिस स्थान पर स्थित हैं, उनको वहीं स्थित रखना यथा हलन–चलन के बावजूद आगे–पीछे न होने देना, शरीर में विकार उत्पन्न होने पर उसको दूर करना और पुनः अच्छा करना। अनावश्यक, अनुपयोगी, विजातीय तत्त्वों का विसर्जन करना। यदि कोई हड्डी टूट जाए तो उसे पुनः त्वचा का आवरण लगाना। रक्त बहने अथवा रक्त दान आदि से शरीर में जो रक्त की कमी हो गई हो तो उसकी पूर्ति करना। उपर्युक्त एवं ऐसे अनेक कार्य शरीर के गुण एवं स्वभाव हैं परन्तु यदि किसी कारणवश शरीर इन कार्यों को बराबर न करे तो यह उसकी विभाव दशा है अर्थात् रोगों का प्रतीक है।

शरीर विभिन्न तंत्रों का समूह है। जैसे ज्ञान तंत्र, नाड़ी तंत्र, श्वसन, अस्थि, मज्जा, लसिका, प्रजनन, विसर्जन आदि। शरीर में पीयूष, पिनियल, थायरॉइड़ और पैराथायरॉइड, एड्रीनल, पेन्क्रियाज थाइमस, प्रजनन आदि अन्तःस्रावी ग्रन्थियां प्रशासक के रूप में कार्य करती हैं। सभी आपसी सहयोग, समन्वय, तालमेल, अनुशासन से अपना कार्य स्वयं ही करते हैं, क्योंकि ये चेतनाशील मानव के लक्षण और स्वभाव हैं। परन्तु यदि किसी कारणवश कोई भी तन्त्र शिथिल अथवा निष्क्रिय हो जाता है, अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ असक्रिय अथवा अतिसक्रिय हो जाती हैं तथा उनके कार्यों को संचालित और नियंत्रित करने के लिए बाह्यय सहयोग या आलम्बन लेना पड़े तो यह शरीर की विभाव दशा है, अतः ये रोग का सूचक हैं।

आत्मा की विभाव दशा रोग का सूचक

अज्ञान, मिथ्यात्व, मोह, आत्मा की विभावदशा हैं। जो कर्मों के आवरण से स्वविवेक और अपना भान नहीं होने देतीं। अतः ये आत्मा के रोग हैं। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, वीतरागता शुद्धात्मा के लक्षण हैं। यही अवस्था निरोगी आत्मा की प्रतीक होती है। जैसे कोई व्यक्ति केवल झूठ बोलकर ही अपना कार्य चलाना चाहे, तो उसे सत्य बोलना ही पड़ेगा, क्योंकि झूठ बोलना उसका स्वभाव नहीं है। व्यक्ति छोटा हो अथवा बड़ा, अपने स्वभाव में बिना किसी परेशानी, प्रायः सदैव रह सकता है। बाह्यय आलम्बनों का जितना–जितना सहयोग लेगा, वह उसकी विभावदशा अथवा रोग की दशा होगी। जितना–जितना अपने स्वभाव को विकसित करेगा, व्यक्ति स्वास्थ्य के समीप होता जाएगा। अपने आपको स्वस्थ और निरोग रखने की भावना रखने वालों को इस तथ्य, सत्य का चिन्तन कर अपने लक्ष्य की तरफ आगे बढ़ने का प्रयास करना चाहिए।

जिन शारीरिक अथवा मानसिक रोगों का उपचार सम्भव होता है, प्रायः उनमें अधिकांश रोगों का कारण-हम स्वयं ही होते हैं। रोग के सम्बन्ध में हमारी गलत धारणाएँ हैं। दर्द अथवा रोग के अन्य लक्षण हमें सजग करते हैं। अपने कर्त्तव्य बोधा हेतु चिन्तन करने की प्रेरणा देते हैं। हमें चेतावनी देते हैं, कि हम अपने आपका निरीक्षण कर, अपने आपको बदलें ताकि पीड़ा मुक्त, तनाव मुक्त जीवन जी सकें। हम स्वप्न में जी रहे हैं यानी बेहोशी में हैं। दर्द अथवा रोग के अन्य संकेत उसे बेहोशी को भंग कर हमें सावधान करते हैं। परन्तु सही दृष्टि न होने से हमने, उनको शुत्र मान लिया है। रोगी शरीर की आवाज सुनना और भाषा को समझना नहीं चाहता। उपचार स्वयं के पास है और खोजता है बाजार में डाक्टर और दवाइयों के द्वारा। फलतः दवा द्वारा रोग के कारणों को दबा कर खुश होने का असफल प्रयास करता है। रोगी जितना डाक्टर, दवा अथवा अन्य शुभचिन्तकों, अधूरे ज्ञान वाले सलाहकारों पर विश्वास करता है, उतना अपने आप पर एवं अपनी क्षमताओं पर विश्वास नहीं करता। यही तो सबसे बड़ा मिथ्यात्व है। जब रोग का कारण स्वयं है तो उपचार भी स्वयं के पास अवश्य होना चाहिए। शरीर की स्वचालित प्रणाली आँतें, गुर्दे, फेफड़े और त्वचा शरीर के किसी भी भाग में एकत्र हुए अनुपयोगी, विजातीय अथवा अवांछित तत्त्वों को किसी न किसी प्रकार का सफाई अभियान चलाकर, उसे जुखाम, बुखार, फोड़े–फुन्सी, मल–मूत्र अथवा पसीने आदि के रूप में शरीर से बाहर फेंक कर शरीर की विभिन्न कार्य प्रणालियों के कार्य को सामान्य रूप में लाने का प्रयास करती है। प्रकृति रोक के द्वारा यह दर्शाती हैं कि हम गलती कर रहे हैं। प्रारम्भिक अवस्था में प्रकट होने वाले रोग के लक्षण हमारे मित्र है। हमें हमारी असजगता के कारण भविष्य में होने वाले दुष्परिणामों की चेतावनी देकर सचेत करते हैं। यह तो हमारे शारीरिक प्रक्रिया का एक उपकारी एवं हितैषी कार्य नहीं जिसे रोका जाए, विरोध किया जाए अथवा जिसे नष्ट किया जाए परन्तु अज्ञानवश आज हम इन संकेतों को दुश्मन मान दवाइयों द्वारा उनको दबा कर अपने आपको बुद्धिमान समझने की भूल कर रहे हैं। कचरे को दबाकर अथवा छिपाकर रखने से उसमें अधिक सड़ांध, बदबू अथवा अवरोध की समस्या पैदा होगी। दीमक लगी लकड़ी पर रंग रोगन करने से बाहरी चमक भले ही आ जावे, परन्तु मजबूती नहीं आ सकती। औषधियों के माध्यम से इस सफाई अभियान को रोकने से तो विषैले अथवा दूषित तत्त्वों के शरीर के अन्दर रूके रहने से धीरे–धीरे शरीर की कार्यप्रणाली में अवरोध बढ़ता जाएगा। जो भविष्य में विभिन्न गम्भीर रोगों को जन्म देने का कारण बनते हैं।

रोग, असजगता की चेतावनी

रोग प्रकृति द्वारा हमारी गलतियों को दर्शाता है। कारण दूर किए बिना लक्षणों को दबाने से राहत भले ही मिल जाए, पूर्ण उपचार कदापि नहीं हो सकता। अतः वास्तव में रोग तो एक उपहार है, क्योंकि इसका उद्देश्य परोपकारी व रक्षाकारी है। शरीर में अवांछित तत्त्वों का जमाव व उसके निष्कासन में निष्क्रियता ही रोगों का मूल कारण है।

आधुनिक चिकित्सक प्रायः रोग के मूल कारणों का पता न लगाकर रोग के लक्षणों का उपचार कर मात्र तुरन्त राहत दिलाने का प्रयास करते हैं। दवाओं द्वारा लक्षणों को दबा देते हैं। जिससे एक तरफ तो रोग के कारण बने रहते हैं, दूसरी तरफ दवाएँ प्रायः शरीर की रोग प्रतिकारात्मक क्षमताओं को क्षीण कर देती है, परिणामस्वरूप भविष्य में नित्य नवीन रोगों के पनपने की सम्भावना बनी रहती है। उनका प्रयास वृक्ष को सुरक्षित रखने के लिए, जड़ को सींचने के बजाय पत्तों को पानी पिलाने के समान अदूरदर्शिता पूर्ण होता है।

रोग का कारण

रोगों के मुख्यतया दो कारण होते हैं।

1) बाह्य (Objective) अर्थात् शारीरिक धर्म अथवा स्वास्थ्य के सिद्धान्तों के विरूद्ध आचरण करना।

2) आन्तरिक (Subjective) अर्थात् स्वयं की अनिष्टकारी मनोवृत्तियों का अनुचित प्रयोग तथा अहितकर चिन्ता, भय, तनाव, दुःख आदि।

प्रायः अधिकांश प्रचलित चिकित्सा पद्धतियों में रोग से सम्बन्धित मानसिक कारणों को दूर करने की दवा अथवा इंजेक्शन अभी तक नहीं बन पाया है और न उपचार करते समय ऐसे कारणों को दूर कर मानसिक विकारों से मुक्त होने को प्राथमिकता ही दी जाती है। प्रत्येक रोग का उपचार हो सकता है, परन्तु सभी रोगों का प्रायः एक–सा उपचार नहीं होता। अंग्रेजी में एक कहावत प्रसिद्ध है, "All Diseases can be cured but not all patients, because they are having very much impatience"

अज्ञान, सभी दुःखों का मूल है

इस दुनिया में इतने कष्ट नहीं, जितने आदमी भोगता है। वह भोगता है तो उसका कारण है – उसका अज्ञान। ज्ञान है तो बहुत से समाधान हैं। स्वास्थ्य के लिए हमारे शरीर में समाधान है, प्रकृति में समाधान है, वातावरण में समाधान है। भोजन, पानी और हवा के सम्यक् उपयोग और विसर्जन में समाधान है। समाधान भरे पड़े हैं, किन्तु उस व्यक्ति के लिए कोई समाधान नहीं है जिसमें अज्ञान भरा पड़ा है। स्वास्थ्य-सम्बन्धी नियमों का सही ज्ञान न होना व उनका उल्लंघन करना

सभी रोगों का मूल कारण है। प्रकृति किसी भी ज्ञानी या अज्ञानी को नियम विरूद्ध कार्य करने के लिए क्षमा नहीं करती।

विज्ञान का मतलब है विशिष्ट ज्ञान। जो क्रमबद्ध एवं सूत्रबद्ध ढंग से प्राप्त किया जाए अथवा विज्ञान ज्ञान प्राप्त करने की वह विधि है, जिसमें तार्किक विधियों एवं प्रयोगों अथवा चेतना की अनुभूतियों के आधार पर सत्य के निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है। अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं, परन्तु अल्प ज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान है। अज्ञान से अविश्वास और भ्रान्ति पैदा होती है।

रोग का प्रारम्भ आत्म विकारों से

शरीर, मन और आत्मा का एक–दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा सभी एक–दूसरे से प्रभावित होते हैं। मन, वचन और काया आत्मा की अभिव्यक्ति के तीन सशक्त माध्यम हैं। मन दूषित होने से वाणी और काया बिगड़ जाती है अर्थात् स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। यदि शरीर बिगड़ा हुआ हो तो मनोवृत्तियाँ दूषित हो जाती हैं। अतः शरीर, मन और वाणी का तालमेल सन्तुलन ही वास्तविक स्वास्थ्य होता है।

जैसी शारीरिक अवस्था हो, चाहे पीड़ा, वेदना, दर्द अथवा निष्क्रियता अथवा तनाव, बेचैनी, अधीरता, भय, चिन्ता, दुःख जैसी मानसिक स्थिति या शुभाशुभ भावों का प्रभाव सारे लक्षण और अभिव्यक्ति तो शरीर के माध्यम से ही होती है। अतः प्रायः सभी चिकित्सा पद्धतियों का उपचार करते समय शरीर को ही रोग के लक्षणों से, अपने–अपने सिद्धान्तों एवं विधि के अनुसार मुक्त करने का प्रयत्न होता है। मानसिक रोग एवं भावात्मक आवेग तथा आत्मिक विकार जो ज्यादा खतरनाक होते हैं और रोगों की उत्पत्ति के मूल कारण होते हैं, उनको दूर करने के लिए कोई भी व्यवस्थित चिकित्सा पद्धति नहीं है। कारणों को दूर किए बिना जो भी उपचार होगा, वह अस्थायी होगा तता उपचार करते समय आत्मिक विकारों को बढ़ाने अथवा प्रोत्साहन देने वाला उपचार दुष्प्रभावों से रहित नहीं हो सकता? मात्र शरीर के रोगों को ही रोग मानना तथा मन, वाणी, दुर्भावनाओं एवं आत्मा के विकारों को रोग में सहयोगी न मानना हमारे अज्ञान और अदूरदर्शिता का प्रतीक है।

रोग क्यों होते हैं?

रोग होने के अनेक कारण हो सकते हैं। जैसे पूर्व जन्म के संचित असाता वेदनीय कर्मों का उदय, पैतृक संस्कार अथवा वंशानुगत रोग, आकस्मिक दुर्घटनाएँ, आसपास का बाह्य प्रदूषित वातावरण मौसम का परिवर्तन एवं उसके प्रतिकूल आचरण, असंयम, दुर्व्यसनों का सेवन, अकरणीय पाशविक वृत्तियाँ, मिलावट एवं रासायनिक खाद एवं कीटनाशक दवाइयों से उपलब्ध आहार सामग्री, भ्रामक विज्ञापनों पर आधारित जीवन पद्धति, असाध्य अथवा संक्रामक रोगों के प्रति प्रारम्भ

में रखी गई उपेक्षावृत्ति, अनावश्यक दवाओं का सेवन तथा शारीरिक परीक्षण, इलैक्ट्रोनिक किरणों (एक्स रे, टी.वी, सोनोग्राफी, कम्प्यूटर, केट स्केनिंग, मोबाइल फोनों एवं अन्य प्रकार की आणविक तरंगों) का दुष्प्रभाव, प्राण ऊर्जा का दुरूपयोग तथा आवश्यकता के अनुरूप आराम, विश्राम, निद्रा का अभाव, शरीर में रोग प्रतिकारात्मक और रोग निरोधक क्षमता का क्षीण होना, दवाओं एवं गलत अथवा अध ूरे उपचार का दुष्प्रभाव, वृद्धावस्था, इन्द्रियों और मन का असंयम जो शरीर में विकार पैदा करे, आलस्य, अविवेक, अशुभ चिन्तन, आवेग, तनाव, अज्ञान, जीवन मूल्यों चयन और प्राप्ति हेतु असजगता, ध्यान और स्वाध्याय की उपेक्षा, राग, द्वेष और हिंसा को प्रोत्साहित करने वाली कषाय मूलक प्रवृत्तियाँ आदि की बहुलता रोगो के मुख्य कारण हैं।

जितने ज्यादा उपर्युक्त कारण विद्यमान होंगे, उतने शरीर में विजातीय तत्त्व अधिक बनेंगे तथा पूर्ण रूप से पेशाब, मल, पसीना, नाक, बलगम द्वारा बाहर नहीं निकल पाएँगे और शरीर में एकत्रित होने लगेंगे। जिस भाग में विजातीय तत्त्व एकत्रित होंगे, उस अंग की कार्यप्रणाली खराब हो जाती है और उससे सम्बन्धित रोग हो जाते हैं। रोगों के नाम भले ही भिन्न–भिन्न हों, परन्तु कारण शरीर में अनावश्यक, अनुपयोगी तत्त्व का जमाव ही होता है। जितने ज्यादा शरीर में अनावश्यक, अनुपयोगी तत्त्व होंगे उतना ही व्यक्ति अशान्त, परेशान, तनावग्रस्त, दुःखी एवं रोगग्रस्त होगा और जितना–जितना इन कारणों से बचता जाएगा उतना उतना व्यक्ति स्वस्थ एवं निरोगी होगा।

स्वास्थ्य एवं रोग जीवन की दो अवस्थाएँ हैं। जीवन में प्रतिक्षण निर्माण और क्षय का क्रम चलता है। जब तक दोनों में सन्तुलन रहता है, तब तक हम स्वस्थ रहते हैं परन्तु जब कोशिकाओं के निर्माण की प्रक्रिया उनके क्षय होने से ध ीमी हो जाती है तो शरीर में कमजोरी एवं रोग उत्पन्न होने की स्थिति बनती है। पहले रोग की प्रतिकारात्मक क्षमता घटने लगती है और बाद में रोग के लक्षण प्रकट होने लगते हैं।

इन कारणों के परिणामस्वरूप शरीर में चेतना का असन्तुलन हो जाता है। कहीं सक्रियता आवश्यकता से अधिक हो जाती है तो कुछ भाग चेतना की असक्रियता के कारण आंशिक अथवा पूर्णरूपेण निष्क्रिय होकर अपना कार्य बराबर नहीं करते तथा व्यक्ति रोगी हो जाता है। यदि किसी भी विधि द्वारा इस असंतुलित चेतना को पुनः संतुलित कर दिया जाए तो सारे शरीर में चेतना का प्रवाह सन्तुलित होने लगता है और व्यक्ति रोगमुक्त होने लगता है।

आज चन्द मानव भौतिक सुखों की तलाश में दुर्व्यसनों को जानते हुए भी निःसंकोच सेवन करते हैं। पानी की भाँति शराब अथवा अपेय का सेवन करते हैं। बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू, अफीम, हुक्का, गुटखा, हेरोइन, स्मैक आदि हानिकारण

दुर्व्यसनों का सेवन करते हैं। अपनी कामेच्छा से खुला खेल अमूल्य वीर्य शक्ति का नाश करते हैं। उपचार द्वारा अपने आपको स्वस्थ रखने की कामना रखने वाले ऐसे मानव को स्वयं के प्रति भी सजग एवं सतर्क कैसे माना जाए? ये सभी प्रवृत्तियाँ तो रोग पैदा करने और उन्हें बढ़ाने वाली हैं अतः ये रोग की कारण हैं।

आत्मिक ऊर्जा की उपेक्षा अनुचित

स्वास्थ्य के प्रति हमारा अज्ञान अथवा अधूरा ज्ञान रोगों का मूल कारण है। रोग की चार अवस्थाएँ हैं। शारीरिक, मानसिक, भावात्मक और आत्मिक। जिस अवस्था का रोग हो, जब तक उसके अनुरूप उपचार नहीं किया जाएगा तब तक रोग से मुक्ति सम्भव नहीं। आज प्रायः मानसिक और आत्मिक रोगों को तो हम रोग मानते ही नहीं, क्योंकि मन और आत्मा की शक्ति का हमें न तो सम्पूर्ण ज्ञान ही है और न हम उसको जानने एवं समझने का अपेक्षित प्रयास ही करते हैं। इसके विपरीत आत्मबल और मनोबल की क्षमताओं से अपरिचित होने के कारण उसका अवमूल्यन कर दुरूपयोग करते संकोच नहीं करते। शरीर से मन और मन से भावना की शक्ति बहुत ज्यादा है और भावना से आत्मा की शक्ति अनन्त गुणा ज्यादा होती है। मन की शक्ति का उस समय आभास होता है, परन्तु सामने मृत्यु का प्रसंग या भय जैसी परिस्थिति उत्पन्न होने पर दौड़ने लग जाते हैं। शारीरिक वेदना से तड़पने वाले मृत्यु की शैया पर अन्तिम श्वास गिनने वालों के सामने, जब लम्बे समय पश्चात् उनका कोई स्नेही परिजन मिलता है, तो क्षण मात्र के लिए सारे दुःख–दर्द कैसे भूल जाते हैं? खुशी के प्रसंगों पर रोगों को क्यों भूल जाते हैं? आत्म साधक सभी भौतिक सुख–सुविधाओं को त्यागने वाले आत्म बली, आध्यात्म योगी, सन्त, मुनिजन इतने तनावमुक्त प्रसन्नचित्त, शान्त, निर्भय, सुखी, सन्तोषी कैसे रहते हैं?

उचित प्राथमिकताओं का चयन आवश्यक

हमारे चिन्तन का केन्द्रबिन्दु है– भावना का परिष्कार। आज की सबसे बड़ी समस्या है भावनाओं का असंतुलन या आवेग। इसी कारण सारे मनोविकार पैदा होते हैं। मन भी तन के सृजन में सहयोगी है। इन्द्रियों और मस्तिष्क के कार्यों के संचालन में उसकी अहम भूमिका होती है। सारे विचारों, चिन्तन, मनन, सोच, इच्छाओं, कल्पनाओं, कामनाओं, स्मृतियों की प्रवृत्तियों के संचालन में मन का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। अतः मनोविकारों से बचना स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य है। मन स्वछन्द और अनियन्त्रित होता है। परिणाम स्वरूप जो मन चाहता है, जो मन को अच्छा अथवा अनुकूल लगता है, प्रायः हम अपनी जीवन चर्या में ऐसी बातों को प्राथमिकता देते हैं, भले ही वे हमारे शरीर के लिए अनुपयोगी अथवा हानिकारक ही क्यों न हो। हम स्वाद के वशीभूत हो ऐसी चीजें खाते संकोच नहीं करते जो स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होती है। आँखों से ऐसे दृश्य देखते है जो विकार पैदा

करते हैं अथवा जिन्हें नहीं देखना चाहिए। हमारी प्राथमिकताएं, आवश्यकताओं के अनुरूप हो न कि इच्छाओं के अनुरूप।

स्वास्थ्य का अस्तित्व जब तक शरीर में आत्मा होती है, तभी तक होता है। आत्मा ही अपनी चैतन्य ऊर्जा द्वारा शरीर, मन और भावों का सृजन करती है। अतः स्वस्थता का मतलब है आत्मा की शुद्धता, पवित्रता। अतः उपचार आत्मा को अपवित्र बनाने वाला कदापि नहीं होना चाहिए। यही हमारी सर्वोच्च प्राथमिकता होनी चाहिए। शरीर को स्वस्थ रखने के लिए आत्मा की उपेक्षा अथवा उसको विकारी बनाना हमारे गलत सोच का प्रतीक होती है। आभूषण की शोभा शरीर पर कपड़े पहनने के बाद धारण करने से होती है। जिस प्रकार कपड़ों बिना आभूषण पहनने वाला पागल ही होता है, ठीक उसी प्रकार आत्मा को विकारी बना शारीरिक स्वस्थता को प्राथमिकता कैसे बुद्धिमत्ता हो सकती है?

चिकित्सा हेतु अमानवीय आचरण अनुचित

अमानवीय कार्यों से आत्मा दूषित होती है। विशेषकर हिंसक आचरण से। स्वार्थवश अपनी श्रेष्ठता, उच्चता, सबलता का लाभ उठा, अन्य प्राणियों को साथ हिंसा, क्रूरता, निर्दयता का आचरण करने का हमें अधिकार नहीं है। अतः आत्मिक पवित्रता के लिए ऐसे कृत्यों को प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष करने, करवाने और अनुमोदन करने से अपने मन, वचन और काया को अलग रखना सर्वाधिक आवश्यक है। प्रकृति का अटल नियम है कि "दुःख देने से दुःख मिलता है।" और "सुख देने से सुख मिलता है।" अतः प्राणिमात्र के प्रति हमें दया, करूणा, संवेदना, मैत्री का भाव विकसित करना चाहिए। अपनी शांति, सुख और स्वास्थ्य के लिये दूसरे प्राणियों की हिंसा, क्रूरता, कष्ट, दुःख, तनाव आदि पैदा करने वाले कारणों में प्रत्यक्ष परोक्ष सहयोगी बन हम लाख प्रयास करने के बावजूद अपने आपको स्थायी रूप से स्वस्थ नहीं रख सकते। जब तक रोग अथवा दुःख के कारणों को दूर नहीं किया जाएगा तथा अपने द्वारा किए गए प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष, जाने अनजाने, वर्तमान अथवा भूत के अपराधों का परिणाम नहीं भोगेगा, तब तक दुःख से मुक्ति नहीं मिल सकती। रोग दुःख की अभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम है। शारीरिक पीड़ा देने वालों को शारीरिक कष्ट अथवा रोग के रूप में ही अपने कर्मों का भुगतान करना पड़ता हैं। दुर्भाग्य तो इस बात का है कि प्रायः अधिकांश चिकित्सा पद्धतियां उपचार में आत्मा के विकारों की न केवल उपेक्षा करती है, परन्तु कभी कभी तो शरीर को स्वस्थ बनाने हेतु उन विकारों को बढ़ाते हुए भी संकोच नहीं करतीं। अतः सम्पूर्ण स्वास्थ्य की प्राप्ति के लिए अहिंसक आचरण अनिवार्य है। उपचार हेतु प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष हिंसा को प्रोत्साहन कदापि उचित नहीं हो सकता?

शरीर के रचनाकार द्वार निर्मित शरीर की स्वःस्वास्थीकरण (Self Healing) स्वःचालित (Self Operating) स्वःव्यवस्थित (Self Adjusting) स्वःसुधारक (Self Repairing) रक्षा प्रणाली शरीर के किसी भी भाग में एकत्रित हुए विषैले, रोग उत्पन्न करने वाले, विजातीय तत्वों का प्रतिरोध करती है। हमारे अनुचित खान–पान, रहन–सहन, आचार–विचार, अथवा अप्राकृतिक जीवनशैली से यदि उस शक्ति को अधिक कार्य करना पड़े तो उसकी कार्य क्षमता जल्दी क्षीण हो जाती है और शरीर में रोगग्रस्त होने की संभावना बढ़ जाती है। शरीर की इस सुरक्षा व्यवस्था (Defence Power) को क्षीण होने से रोकना ही रोगों को रोकना है। संयमित, नियमित, परिमित, स्व अनुशासित एवं स्वनियंत्रित, स्वावलम्बी और सात्विक जीवन शैली ही स्वस्थ जीवन की प्राकृतिक विधि होती है।

वंशानुगत रोगों में माता–पिता की भूमिका

कोई भी रोग बाजार में नहीं मिलता। पूर्वार्जित कर्मों, आकस्मिक दुर्घटनाओं अथवा जन्मजात और वंशानुगत रोगों को छोड़ प्रायः अन्य सभी रोगों के लिए बाल्यकाल के पश्चात् रोगी स्वयं ही जिम्मेदार होता है। बाल्यकाल और गर्भाव्यवस्था में तो जीवन माता के आश्रित होता हैं। हमारे शरीर के सभी अंगों, उपांगो, अन्तःश्रीवी ग्रन्थियों, इन्द्रियों आदि का 99% निर्माण तो बीज रूप में गर्भावस्था में ही हो जाता है। जन्म के पश्चात तो उसमें मात्र विकास अथवा फैलाव ही होता है। अच्छे फल की प्राप्ति के लिए बीज का अच्छा होना अनिवार्य है। अतः बच्चे के स्वास्थ्य हेतु विशेष रूप से माता ही जिम्मेदार होती हैं। वंशानुगत और जन्मजात रोगों में माता–पिता द्वारा गर्भकाल में रखी गई असावधानियाँ, असंयम, अविवेक एवं उपेक्षावृत्ति ही मूल कारण होते हैं। खेती करने वाला साधारण किसान भी अच्छी फ़सल प्राप्त करने के लिए बीज बोने से लेकर फसल प्राप्त होने तक कितनी सजगता, सावधानी और देखरेख करता है, पुरूषार्थ करता है, तो ही उसे अपने परिश्रम का उचित फल मिलता है। तब मनुष्य जैसे व्यक्तित्व के निर्माण के प्रति माता–पिता असजग, बेखबर लापरवाह रहें, अविवेकपूर्ण आचरण करें तो वे अपने कर्त्तव्यों के प्रति ईमानदार नहीं कहे जा सकते? उसका दुष्परिणाम होता है अशक्त, कमजोर, दुर्बल, रोगग्रस्त, विकलांग सन्तान। माँ के पेट में बच्चा अधिकांशतः सोया रहता है परन्तु माँ के आवेग अथवा अन्य कारणों से यदि वह जागृत हो जाता है तो उस समय होने वाला बच्चे का विकास अपूर्ण होता है। क्रोध की अवस्था में माता द्वारा कराया गया दुग्धपान विष का कार्य करता है।

अप्राकृतिक जीवन शैली रोग का मूल

प्रकृति के साथ असहयोग की सजा रोग है। अतः निरोग रहने के लिए आवश्यक है कि यथासम्भव हम प्राकृतिक नियमों का पालन करें। शरीर को स्वस्थ

रखने के लिए यह जानना आवश्यक है कि श्वास कब, कहाँ, कितना और कैसे लें अथवा छोड़ें? पानी कब, कितना और कैसे पिएँ? खाना कब, कितना, क्या, कहाँ और कैसे खाएं? इन नियमों की उपेक्षा कर अपने आपको स्वस्थ रखने की कल्पना, आग लगा कर शीत प्राप्त करने के समान होगी। मन के लंगड़े व्यक्ति को स्वर्ग के हजारों देवता भी अपने पैरों से नहीं चला सकते। ठीक उसी प्रकार अप्राकृतिक जीवन शैली से दीर्घकाल तक स्वस्थ रहना असम्भव होता है। स्वस्थता के लिए आवश्यक है नियमित स्वाध्याय, ध्यान, शुभ भावनओं का सम्यक् चिन्तन, अनासक्ति एवं निस्पृही जीवनचर्या, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन एवं सम्यक् आचरण में प्रवृत्ति का अभ्यास, संयमित, नियमित, परिमित जीवन शैली, मौसम के अनुकूल, सात्त्विक पौष्टिक खान–पान, शुद्ध प्राणवायु का अधिकाधिक सेवन, स्वच्छ हवा एवं धूप वाला आवास एवं क्रिया स्थल, नियमित आसन, प्राणायाम, व्यायाम, निद्रा, उपवास, स्वास्थ्य के अनुकूल दिनचर्या आवश्यक है। अपनी अपनी आवश्यकताओं और क्षमताओं की प्राथमिकता के आधार पर यदि उपर्युक्त बातों का समायोजन हमारे दैनिक जीवन में करते हैं तो रोग आने की सम्भावनाएँ बहुत कम हो जाती हैं। साथ ही मानसिक एवं आत्मिक शुद्धि का निरन्तर विकास होने से जीवन में शान्ति, सन्तोष, सहनशीलता, निर्भयता, धैर्य, आनन्द एवं अनुकूल और प्रतिकूल प्रसंगों पर समभाव के संस्कार अभिव्यक्त होने लगते हैं।

मन का असंयम रोग का जनक

मन का कार्य चिन्तन–मनन, संकल्प–विकल्प, इच्छाएँ–कामनाएँ करना, भूत की स्मृति एवं भविष्य की कल्पनाएँ करना आदि है। इस पर जब ज्ञान और विवेक का अंकुश रहता है तो मन शुभ में प्रवृत्ति करता है। व्यक्ति को नर से नारायण बना देता है, परन्तु जब वही मन स्वछन्द बन जाता है, तब व्यक्ति को अपने लक्ष्य से विचलित कर देता है। जब चाहा, जैसा चाहा, चिन्तन, मनन, इच्छा, एषणा, आवेग करने लग जाता है, जिसका परिणाम होता है गलत प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन, असंयम, कषाय (आत्मा को कलुषित करने वाली प्रवृत्ति) प्रमाद (निरर्थक समय की बरबादी), अशुभ, अनावश्यक, अनुपयोगी कार्यों मे मन और काया को लगाए रखना। ये सब प्रवृतियाँ आत्मा को विकारी बना देता हैं। आत्मा से मन, वाणी और शरीर का सृजन होता है। अतः तीनों में विकार उत्पन्न होने से व्यक्ति रोगग्रस्त हो जाता है।

अध्याय – 4

जीवन शैली अच्छी तो स्वास्थ्य अच्छा

विज्ञान से प्रभावित आधुनिक जन–जीवन

आज का युग वैज्ञानिक युग कहलाता है। भौतिक जगत में विज्ञान के चमत्कारों ने असम्भव को सम्भव, परोक्ष को प्रत्यक्ष दिखलाने में काफी सफलताएँ प्राप्त की हैं। भौतिक सुख–सुविधाओं, आवागमन, संचार माध्यमों के साधनों को सुलभ कराया है। प्रायः जीवन के अधिकांश क्षेत्र उससे प्रभावित हो रहे हैं। इन्टरनेट, कम्प्यूटर, टी. वी., मोबाइल फोन, संचार और आवागमन के साधनों के विकास के कारण संसार में बाह्य दूरियाँ कम होती जा रही है। विश्व में घटित विभिन्न घटनाक्रमों की जानकारी घर बैठे प्राप्त हो रही है। दैनिक जीवन में उपयोग के लिए बिजली द्वारा संचालित शारीरिक सुविधा प्रदान करने वाले पंखे, कुलर, एयर कंडीशनर, वांशिग मशीन, रेफ्रिजरेटर एवं अन्य घरेलू उपकरण उसके लिए आज्ञाकारी नौकर के समान कार्य कर रहे हैं। उनके अभाव में जीवन अस्त–व्यस्त होने लगता है। बिजली, चुम्बकीय, सौर पेट्रोल, परमाण्विक, रसायन, हवा, पानी आदि ऊर्जाओं के स्रोतों की खोज से मानव को भौतिक रूप से शक्तिशाली बनाने में विज्ञान का भूमिका से नकारा नहीं जा सकता।

चिकित्सा के क्षेत्र में वैज्ञानिक उपलब्धियाँ

चिकित्सा के क्षेत्र में शल्य चिकित्सा द्वारा हृदय; लीवर, गुर्दों, नेत्र की पुतलियों आदि का प्रत्यारोपण सम्भव हो सका है तथा शरीर के किसी भी भाग में जमा विकृतियों को दूर करने जैसे शारीरिक रोगों में राहत दिलाने में आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की है। चश्मों द्वारा आँखों की, श्रवण यंत्रों द्वारा कान की भौतिक क्षमता बढ़ाने में भी आंशिक सफलता मिली है। इंजेक्शन द्वारा शरीर में सीधे आवश्यक अवयव पहुँचाने में, डायलेसिस द्वारा रक्त की सफाई, विकलांगों के लिए कृत्रिम हाथ पैर उपलब्ध कराने, एक्स–रे, ई.सी.जी., सी.टी.स्केन, एम.आर.आई, सोनोग्राफी आदि उपकरणों के माध्यम से शरीर की आन्तरिक प्रणाली को देखने और

समझने में विज्ञान को काफी सफलता मिली है। प्रयोगशालाओं में रक्त, मल, मूत्र, वीर्य, मांस, मज्जा आदि शरीर के अवयवों का परीक्षण कर उसमें आवश्यक तत्त्वों के असन्तुलन को समझ शारीरिक रोगों के निदान को तर्कसंगत बना दिया है तथा उसके अनुरूप बाहय साधनों से उनका सन्तुलन कर शीघ्र पहुँचाने में उत्साहजनक प्रगति की है। छुआछूत रोगों के नियंत्रण, महामारियों की रोकथाम, दुर्घटना जैसी परिस्थितियों में अभी तक अन्य वैकल्पिक चिकित्सा पद्धतियाँ इतनी अधिक तुरन्त राहत पहुँचाने में सक्षम नजर नहीं आतीं, जितनी आधुनिक चिकित्सा के परिणाम हैं।

आधुनिक चिकित्सकों को शरीर के प्रत्येक अंग, उपांग, अवयवों के क्रियाकलापों की जितनी विस्तृत भौतिक जानकारी होती है, उतनी प्रायः वैकल्पिक चिकित्सकों को नहीं होती।

वैकल्पिक चिकित्सक को भले ही शरीर के प्रत्येक अंगों अथवा अवयवों की सूक्ष्म जानकारी न भी हो, फिर भी अधिकांश स्वावलम्बी अहिंसात्मक चिकित्सा पद्धतियाँ आत्मिक अनुभूतियों की उपेक्षा नहीं करती। रोग का कारण रोगी की अप्राकृतिक जीवन शैली में ही ढूँढ़ उपचार करती है। शरीर के विभिन्न अंगों का गहनतम शोध करना गलत नहीं, उसका बहुत महत्त्व है। उपयोगिता और आवश्यकता है, परन्तु उससे भी ज्यादा जरूरी और प्राथमिक मन और आत्मा की शक्तियों की उपेक्षा कहाँ तक उचित है? स्वच्छ कपड़े पहनकर आभूषण पहनने से शरीर की शोभा काफी बढ़ जाती है। फटे–पुराने अथवा गन्दे कपड़ों पर आभूषण शोभा नहीं देते। बिना कपड़े आभूषण पहनने वालों को मूर्ख अथवा पागल कहते हैं। उपचार के नाम पर आत्मा और मन को विकारी बनाने वाले स्वयं निर्णय करें कि उनकी प्राथमिकता कितनी सही है?

चिकित्सा हेतु जनसाधारण की मानसिकता

उपर्युक्त सभी कारणों से आज जनसाधारण एवं स्वास्थ्य मंत्रालय आधुनिक चिकित्सा के नाम से प्रचलित अंग्रेजी एलोपैथिक चिकित्सा को ही चमत्कारिक, प्रभावशाली और वैज्ञानिक मानता है। अन्य प्रभावशाली वैकल्पिक चिकित्सा पद्धतियों की वैज्ञानिकता पर अधिकांश व्यक्ति सन्देहास्पद दृष्टिकोण रखते हैं। जब तक कोई तथ्य आज के तथाकथित भौतिक विज्ञान द्वारा मान्य अथवा प्रमाणित नहीं हो जाता तब तक प्रायः जनसाधारण ऐसी पद्धतियों के बारे में जानने, समझने, सुनने, स्वीकारने और अपनाने में संकोच करता है। भले ही वे पद्धतियाँ अनुभूत सत्य पर ही आधारित क्यों न हों?

परिणामस्वरूप अधिकांश रोगी जो उपचार भले ही वैकल्पिक चिकित्सा से करवाते हों, परन्तु निदान तो आधुनिक चिकित्सकों के परामर्श एवं निर्देशानुसार करवाना आवश्यक समझते हैं। रोग में राहत मिलने के बाद तथा रोग के लक्षणों

के समाप्त हो जाने के पश्चात भी जब तक एलोपैथिक डाक्टर रोग की अनुपस्थिति की पुष्टि नहीं करते, तब तक उनमें उपचार की विश्वसनीयता पर सन्देह बना रहता है। श्रद्धा और समर्पण के अभाव में उपचार की प्रभावशीलता तो वैसे ही कम हो जाती है। ऐसे रोगी अपनी मानसिकता के कारण वैकल्पिक चिकित्सा का पूर्ण लाभ नहीं ले पाते। वैकल्पिक चिकित्सा के लम्बे—चौड़े दावे करने वाले बहुत से चिकित्सक, जिन्हें अपनी चिकित्सा के मौलिक सिद्धान्तों की जानकारी नहीं होती अथवा पूर्ण अनुभव नहीं होता, वे चिकित्सक आत्मविश्वास एवं वैकल्पिक चिकित्साओं की प्रभावशीलता पर पूर्ण विश्वास न होने से स्वयं के रोगग्रस्त होने की स्थिति में अपनी चिकित्सा पद्धति से निदान अथवा उपचार करने के बजाय तात्कालिक राहत हेतु एलोपैथिक उपचार लेना पसन्द करते हैं, तो सारे दावे जनसाधारण को खोखले लगने लगते हैं। परिणामस्वरूप जनसाधारण वैकल्पिक चिकित्सा के प्रति जल्दी आकर्षित नहीं होता।

पौराणिक जीवन शैली का विस्मरण

भौतिक विज्ञान से जहाँ बुद्धि का विकास हो रहा है, वहीं शारीरिक, मानसिक, भावात्मक और आत्मिक स्तर पर मानव दुर्बल और परावलम्बी होता जा रहा है। आत्मिक आनन्द से अनभिज्ञ आधुनिक स्वास्थ्य विज्ञान के विस्तार से जनसाधारण का रोग के कारणों के प्रति मौलिक चिन्तन स्वाध्याय की प्रवृत्ति घटती जा रही है। हमारे ऋषि—मनीषियों ने अपने अनुभव के आधार पर जीवन शैली को प्रकृति के अनुरूप जिस सहज रूप से ढाला, जिससे प्रत्येक व्यक्ति का स्वास्थ्य अच्छा रह सके, आज यह चिन्तन गौण होता जा रहा है। जैसे मौसम के बदलाव से जुड़े हमारे त्यौहार, रीति—रिवाज, पर्व, खान—पान, रहन सहन, वस्त्र, आभूषण, आराधना पद्धति, व्रत, उपवास, लाके संगीत, सुख—दुःख के प्रसंगों पर सामूहिक भागीदारी आदि के पीछे स्वास्थ्य विज्ञान का पूर्ण आधार था, परन्तु आज हम उसके महत्त्व को भूलकर, पश्चिमी देशों के अन्धानुकरण और वैज्ञानिकता की आड़ में जो जीवन शैली निःसंकोच अपना रहे हैं,,उससे स्वास्थ्य की समस्याएँ बढ़ती जा रही है।

भौतिकतावादी मानव का दृष्टिकोण

भौतिक विचारधारा वालों का दृष्टिकोण प्रायः स्वार्थी संकुचित होता है। तात्कालिक लाभ के लिए होता है। उनकी प्राथमिकताएँ मन के अनुकूल इन्द्रियों के पोषण की अधिक होती है। खाओ, पीयो और मौज करो। वह आत्मा का अस्तित्त्व मृत्यु तक ही मानता है। शरीर और आत्मा को एक ही मानता है। जन्म से पूर्व और मृत्यु के पश्चात् आत्मा के अस्तित्व को जानने, समझने, स्वीकारने हेतु प्रयास नहीं करता। उनका मुख्य ध्येय शारीरिक पोषण एवं स्वास्थ्य तक ही सीमित होता है तथा उसक लिए कभी कभी मन, भाव और आत्मा को विकृत करते तानिक भी संकोच नहीं करता।

अध्याय – 5

आधुनिक विज्ञान और स्वास्थ्य

विज्ञान क्या है?

किसी भी वस्तु के सुक्ष्मावलोकन एवं विश्लेषण से प्राप्त यथार्थ ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। वैज्ञानिक दृष्टिकोण का मतलब ऐसी क्षमता से कार्य करना है जिसमें कम से कम निवेश में लाभ अधिक से अधिक हो तथा हानि और दुष्प्रभाव भी कम से कम हो। सत्य की खोज का नाम विज्ञान है। अर्थात् विज्ञान का मतलब पूर्ण ज्ञान, सम्यक् ज्ञान। विज्ञान सत्य को स्वीकारता है और झूठ को नकारता है। उसका एक मात्र आग्रह, पूर्ण सत्य पर होता है। जैसे जैसे आंशिक अथवा अधूरे सत्य की पोल खुलने लगती है वर्तमान की वैज्ञानिक मान्यता को भविष्य में अवैज्ञानिक करार दे दिया जाता है। अर्थात् जो सत्य को परिभाषित करता है, वही विज्ञान है। विज्ञान का आधार होता है – "सच्चा सो मेरा–" न कि – "मेरा जो सच्चा–"। वास्तव में जो सत्य है उसको स्वीकारने में किसको आपत्ति हो सकती है। परेशानी तो तब होती है जब विज्ञान के नाम पर आंशिक तथ्यों पर आधारित, अधूरे सत्य को पूर्ण बतलाने का प्रयास किया जाता है। कभी कभी अपनी बातों को वैज्ञानिक बतलाने हेतु मायावी आँकड़े, झूठे भ्रामक विज्ञापनों एवं संख्या बल का सहयोग लिया जाता है तथा वास्तविकता एवं सनातन सत्य को नकारा जाता है। अपनी पद्धतियों को वैज्ञानिक तथा अन्य पद्धतियों को अवैज्ञानिक बतलाने का दृष्प्रचार किया जाता है। हमारा दृष्टिकोण संकुचित हो जाता है। विज्ञान के मूल मापदंण्ड गौण होने लगते हैं। किसी भी तथ्य को वैज्ञानिक मानने के लिए अंतिम परिणामों की एकरूपता भी आवश्यक है, भले ही वह प्रयोग किसी के द्वारा कहीं पर भी क्यों न किया गया हो।

आधुनिक चिकित्सकों का अपनी खोजों की वैज्ञानिकता सिद्ध करने का दावा लगभग प्रायः ऐसा ही लगता है। विशेषकर स्वास्थ्य के नाम पर आयोजित होने वाले कांफ्रेंसों में प्रस्तुतीकरण का ऐसा ही आधार होता है। वैज्ञानिक शोध का आधार होना चाहिए अंतिम परिणामों का स्पष्ट प्रकटीकरण। अर्थात् लाभ और हानि का

सही विश्लेषण। प्रत्येक चिकित्सक अपनी उपलब्धियों को तो बढ़ा चढ़ा कर प्रस्तुत करते हैं, प्रचारित करते हैं, परन्तु जहाँ जहाँ अपेक्षित परिणाम नहीं मिलते अथवा दुष्प्रभाव पड़ते हैं, उनके कारणों का विश्लेषण तक नहीं करते हैं। स्वास्थ्य विज्ञान की शोध के आधार में एकरूपता होनी चाहिए। अर्थात् जिन रोगियों अथवा प्राणियों पर दवाओं अथवा उपचार के जो प्रयोग किए जाते हैं, उनका खान–पान, रहन–सहन, स्वभाव, मानसिकता, आचार–विचार, सोच, चिन्तन–मनन की प्रक्रिया, पारिवारिक समस्याएँ तथा शरीर में अप्रत्यक्ष एवं सहयोगी रोगों की एकरूपता भी आवश्यक होती है। क्योंकि ये ही कारण रोग से सम्बन्धित होते हैं, परन्तु ऐसी परिस्थितयाँ सभी रोगियों में एक सी होना कभी भी सम्भव नहीं होती। अतः प्रस्तुत परिणाम कैसे वैज्ञानिक और सत्य पर आधारित समझे जा सकते हैं? चिन्तन का प्रश्न है।

जीवन में चेतना का महत्व

सारा शरीर मुख्यतया दो प्रकार की ऊर्जाओं से संचालित होता है। प्रथम भौतिक ऊर्जा तथा दूसरी चैतन्य ऊर्जा। किसी एक के पूर्ण अभाव में मानव जीवन चल ही नहीं सकता। भौतिक ऊर्जा शरीर के अंगों, उपांगों, अवयवों, तंत्रों आदि के निर्माण हेतु आवश्यक साधन उपलब्ध करने में सहायक होती है और चैतन्य ऊर्जा उन उपलब्ध साधनों से उनका निर्माण, संचालन और नियंत्रण करती है। चैतन्य ऊर्जा के अभाव में न तो शारीरिक अवयवों आदि का निर्माण ही सम्भव है और न ही जीवन। इसी कारण भौतिक विज्ञान के विकास के बावजूद चैतन्य ऊर्जा के अभाव में अभी तक शरीर के लिए आवश्यक कोशिकाओं, रक्त, अस्थियों, माँस पेशियों, नाड़ियों, वीर्य आदि अवयवों आँख, कान, नाक जैसी इन्द्रियों, हृदय, फेंफड़े, गुर्दे, लीवर जैसे अंगों का निर्माण प्रयोगशालाओं में सम्भव नहीं हो सका। चैतन्य ऊर्जा का विकास आत्मा की पवित्रता के अनुसार होता है। अतः उपचार करते समय जो चिकित्सा पद्धतियाँ भौतिक और चैतन्य ऊर्जाओं को ठीक रखने, सन्तुलित रखने के सिद्धान्तों पर कार्य करती हैं, वे ही अपने आपको वैज्ञानिक बतलाने का वास्तव में दावा कर सकती हैं।

भौतिक विज्ञान की सीमाएँ

भौतिक विज्ञान का आधार वही पदार्थ होता है, जिसे कि दिखाया जा सके, जो मापा जा सके, जो प्रयोगों, परीक्षणों से प्रमाणित किया जा सके। ऐसे परिणाम जो तथ्य, तर्क एवं आँकड़ों से लिपिबद्ध किए जा सके। जिसका आधार निरीक्षण, विश्लेषण, निश्चित प्रक्रिया पर आधारित व्यवस्थित आँकड़ों द्वारा संकलित एवं प्रमाणित हो। जिसका उपयोग, संचालन, नियंत्रण प्रायः व्यक्ति स्वयं अथवा अन्य कोई व्यक्ति द्वारा निश्चित विधि का पालन कर बिना किसी बाहय भेदभाव कहीं भी

किया जा सके। आवश्यकता पड़ने पर जिसका पुनरावर्तन किया जा सके। जैसे विज्ञान द्वारा विकसित सभी सुविधाओं के साधन, उपकरण, यंत्र आदि का उपयोग कोई भी कर सकता है। उपर्युक्त मापदण्डों को जो पूर्ण न करते हो, उनको आज का मानव वैज्ञानिक तथ्य के रूप में स्वीकार करते संकोच करता है। भले ही वह अनुभूतियों द्वारा प्रमाणित ही क्यों न हो? उपर्युक्त मापदण्डों के आधार पर विज्ञान के नाम पर आज तक जो कुछ उपलब्धियाँ विकसित हुई हैं अथवा हो रही है, उन सभी का सम्बन्ध प्रायः भौतिकता से ही होता है। अनुभूति, चेतना की ऊर्जा का माप और अप्रत्यक्ष पड़ने वाले प्रभाव उसमें उपेक्षित होते हैं। सभी अदृश्य, अरूपी पदार्थ उसकी पकड़ में नहीं आते।

अध्यात्म से शून्य स्वास्थ्य विज्ञान अपूर्ण

जिस चिकित्सा में शारीरिक सवास्थ्य ही प्रमुख हो, मन भावों अथवा आत्मा के विकार जो अधिक खतरनाक, हानिकारक होते हैं, गौण अथवा उपेक्षित होते हों या बढ़ते हों, ऐसी चिकित्सा पद्धतियों को ही वैज्ञानिक समझने वाले, विज्ञानक की बातें भले ही करते हों, विज्ञान के मूल सिद्धान्तों से अपरिचित लगते हैं। विज्ञान शब्द का अवमूल्यन करते हैं। सनातन सत्य पर आधारित प्राकृतिक सिद्धान्तों को नकारते हैं। ऐसी सोच गाड़ी में पेट्रोल डाल चालक को भूखा रखने के तुल्य है। ऐसी गाड़ी में यात्रा करने वाला यात्री लम्बी दूरी की यात्र कैसे कर सकेगा—यह चिन्तन का प्रश्न है? उसी प्रकार चेतन चालक की उपेक्षा कर जड़ शरीर रूपी वाहन का ही ख्याल रखने वालों को ज्ञानी, समझदार, बुद्धिमान कैसे कहा जाए?

आध्यात्मिक स्वास्थ्य विज्ञान का सिद्धान्त

स्वास्थ्य एवं जीवनयापन की दृष्टि से आत्म—साधकों का जीवन प्राणी मात्र के प्रति करूणा, दया और अनुकम्पा, "सर्व जीव हिताय, सर्व जीव सुखाय" की लोकोक्ति को सार्थक करने का होता है। उनके शोध और साधना का मूल उद्धेश्य आत्मा को निर्मल, शुद्ध, पवित्र बनाना होता है। अर्थात् आत्म—पोषण का होता है। भले ही उन्हें कभी—कभी उसके लिए शरीर को कष्ट ही क्यों न देना पड़े? उनके जीवन भी क्रोध, मान, माया, लोभरूपी कषायों की मन्दता होने से वे अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में परेशान नहीं होते। उनमें प्रायः मानसिक आवेग नहीं आते जो हमारी अन्तःस्रावी ग्रन्थियों को प्रभावित कर रोग का मुख्य कारण होते हैं। आचरण में अहिंसा, सत्य, नैतिकता, संयम की प्राथमिकता होती है। प्रायः ऐसे व्यक्ति सहनशील, सहिष्णु, निर्भीक और धैर्यवान होते हैं। वाणी में विवेक और मधुरता का सदैव ख्याल रखते हैं उनका उद्धेश्य होता है जीवन में चिरस्थायी आनन्द, शक्ति एवं स्वाधीनता की प्राप्ति। वे स्वयं के द्वारा स्वयं का आत्मावलोकरन, निरीक्षण, परीक्षण करते हैं। वे स्वयं के द्वारा स्वयं से अनुशासित होते हैं। उनका जीवन शान्त,

सन्तोषी, संयमी, सहज, संतुलित, सरल होता है। विचारों में अनेकान्तता, भावों में मैत्री, करूणा, प्रमोद तथा मध्यस्थता अर्थात् सहजता, स्वदोष–दृष्टि, सजगता, सहनशीलता, सहिष्णुता, दया, सरलता, सत्य, विवेक, संयम, नैतिकता आदि गुणों का प्रादुर्भाव होता है। जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति के जीवन में अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में समभाव, निस्पृहता, अनासक्ति विकसित होती है। व्यक्ति निर्भय, तनाव मुक्त बन जाता है। वाणी में सत्य के प्रति निष्ठा सभी जीवों के प्रति दया, करूणा, मैत्री, परोपकार जैसी भावना और मधुरता प्रतिध्वनित होने लगती है। व्यक्ति का मनोबल और आत्मबल विकसित होने लगता है। व्यक्ति स्वावलम्बी, स्वाधीन बनने लगता है।

आत्मा की पवित्रता बिना पूर्ण उपचार असम्भव

चैतन्य चिकित्सा अर्थात् आध्यात्मिक चिकित्सा पूर्णतया स्वावलम्बी होती है। जिसके अन्तर्गत पातंजली अष्टांग योग के अनुसार यम, नियम, आसन, प्राणायम से ध्यान समाधि की साधना आती है। परन्तु आज यम, नियम की उपेक्षा कर योग को आसन और प्राणायाम तक सीमित करने से यौगिक चिकित्सा को शारीरिक रोगों तक ही सीमित कर दिया गया है। इसी प्रकार जैन द्वादशांग योग के अनुसार योग से अयोग का साक्षात्कार के रूप में आत्मिक विकास का जो क्रम प्रथम गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान अवस्था को प्राप्त करने का साधना पथ है जो "कर्म निर्जरा चिकित्सा पद्धति" के नाम से आगमों में चर्चित है।

आत्मा के विकार–मुक्त होने से शरीर, मन और मस्तिष्क तो स्वतः ही स्वस्थ हो जाता है। आध्यात्मिक चिकित्सा में मन, मस्तिष्क, शरीर और वाणी का उपयोग मात्र आत्म शुद्धि के लिए ही किया जाता है और जब आत्मा के ये प्रतिनिधि उस कार्य में सहयोग देना बन्द कर देते हैं, तो उनकी भी उपेक्षा कर दी जाती है। इसके विपरीत अन्य चिकित्साओं का लक्ष्य मात्र शरीर, मन अथवा मस्तिष्क की स्वस्थता तक ही सीमित होता है। आत्मा की तरफ लक्ष्य न होने से प्रायः आत्मा के सद्‌गुणों की चिकित्सा करते समय उपेक्षा हो जावे तो भी कोई आश्चर्य नहीं? आत्मा को विकारी अपवित्र बनाने वाली चिकित्सा पद्धतियों का उद्धेश्य नौकर को मालिक से ज्यादा महत्त्व देने के समान अबुद्धिमता पूर्ण ही समझा जाना चाहिए।

अध्याय – 6

वैकल्पिक तथा एलोपैथिक चिकित्सा पद्धति में सैद्धान्तिक भेद.

क्या उपचार में राहत ही पूर्ण चिकित्सा है?

रोग में राहत का मतलब है, किसी भी विधि द्वारा रोग के प्रभाव को कम करना जिससे दर्द, पीड़ा, बेचैनी कम हो जाए एवं शरीर में सहनीय स्थिति उत्पन्न हो जाए। अर्थात् राहत का कार्य रोग को दबाना अथवा असक्रिय करने तक सीमित होता है, न कि रोग को मिटाने अथवा निष्क्रिय करने का। जैसे अंगारे पर राख आ जाने से, उसकी गर्मी का प्रभाव कम हो जाता है। दीमक लगी लकड़ी पर रंग रोगन करने से उसकी खराबी छिप जाती है। कचरे पर कपड़ा डालने से अस्वच्छता ध्यान में नहीं आती। जबकि अंगारे की गर्मी, लकड़ी में दीमक लगने से आने वाली खराबी एवं कचरे का दुष्प्रभाव बना रहता है। अतः जब तक रोग का कारण बना रहेगा, भविष्य में रोग होने की सम्भावनाएँ सदैव बनी रहेगी। अच्छे उपचार का मतलब रोग को जड़ से दूर करना। सदैव के लिए उसके कारणों, लक्षणों एवं प्रभाव को निष्क्रिय करना, ताकि भविष्य में उन कारणों से किसी भी रूप में रोग की पुनरावृत्ति न हो। आधुनिक चिकित्सा पद्धति का उद्धेश्य एवं प्राथमिकताएं तात्कालिक परिणामों पर आधारित होने से प्रायः राहत तक ही सीमित रहती है। उपचार के कारण भविष्य में पड़ने वाले दवाओं के दुष्प्रभावों की उपेक्षा होती है। संक्रामक और असाध्य रोगों में तो दवा जीवनपर्यन्त आवश्यक बन जाती है। क्या राहत को ही पूर्ण उपचार मानने वाली चिकित्सा पद्धति वैज्ञानिक कहलाने का दावा कर सकती है?

वर्तमान में एलोपैथिक चिकित्सा की पोषक सरकारी नितियाँ

एलोपैथिक चिकित्सा की तथा–कथित विशेषताओं के कारण तथा मानव की भौतिक दृष्टि की प्रधानता होने से यह पद्धति वर्तमान युग में अधिकांश देशों में सर्वमान्य बन गई है, उसे ही पूर्णतया वैज्ञानिक समझा जा रहा है। उसी को सरकारी मान्यता, संरक्षण एवं पूर्ण सहयोग और सुविधाएँ उपलब्ध हैं। स्वास्थ्य मंत्रालय और चिकित्सा से सम्बन्धित नीति निर्माता एंव सरकारी एवं प्रचार माध्यम उनके प्रति पूर्ण रूचि लेकर खुल्लम खुल्ला प्रचार कर रहे हैं। वैकल्पिक प्रभावशाली चिकित्सा पद्धतियों के प्रचार–प्रसार हेतु अपेक्षित बजट का प्रावधान नहीं है। सारे स्वास्थ्य मंत्रालय पर अंग्रेजी चिकित्सा पद्धति के प्रशंसकों, हित चिन्तकों, समर्थकों का पूर्ण नियंत्रण है। अंग्रेजी चिकित्सा को वैज्ञानिक, विकासोन्मुख, प्रभावशाली, उपयोगी तथा वैकल्पिक प्रभावशाली चिकित्सा पद्धतियों को अवैज्ञानिक, अविकसित, अनुपयोगी, प्रभावहीन, सहयोगी चिकित्सा के रूप में प्रचारित किया जा रहा है। आधुनिक चिकित्सा एवं दवाओं के दुष्प्रभावों से जो नए नए रोग उत्पन्न हो रहे हैं उनका कारण, समाधान उनसे सम्बन्धित चिकित्सकों से पूछा जा रहा है। ऐसा निष्कर्ष कैसे सत्य, विश्वसनीय, अनुकरणीय हो सकता है? स्वास्थ्य के प्रति सजग लोगों के लिए चिन्तन का विषय है।

दवा निर्माताओं के लुभावने, मायावी, भ्रामक विज्ञापनों एवं दबाव के कारण तथा सरकार का पूर्वग्रसित अविवेकपूर्ण दृष्टिकोण तथा प्रभावशाली वैकल्पिक चिकित्सा पद्धतियों का सही ज्ञान नहीं होने के कारण, हमारा स्वास्थ्य मंत्रालय एलोपैथिक चिकित्सा के हितों का पोषक बन कर कार्य कर रहा है। एलोपैथिक चिकित्सा के दुष्प्रभावों को छुपाने की प्रवृत्ति तथा लाभ के एक पक्षीय मिथ्या प्रवृत्ति आंकड़ों को प्रचारित करने की सरकारी माध्यम से छूट मिलने के कारण, राष्ट्र की भोली भाली जनता भ्रमित हो अपने स्वास्थ्य के साथ खिलवाड़ कर रही है। जबरदस्ती टीकांकरण उसी मानसिकता का परिणाम है। चिकित्सा के मामले में आज हम कितने स्वतंत्र है, चिन्तन का प्रश्न हैं?

जैसी सरकारी व्यवस्था होगी, वैसा ही कानून होगा। न्यायाधीश को उसी के अनुरूप ही न्याय करना होगा। भले ही वह न्याय गलत अथवा जनहित के प्रतिकूल ही क्यों न हो? हमारे आज्ञाकारी शिक्षक और शिक्षा अधिकारी सरकारी निर्देशों का आँख मींच निर्वाह करते हैं। उनको भावी पीढ़ी के स्वास्थ्य के बारे में चिन्तन का अवकाश कहाँ, किसी में इतना साहस कहाँ, जो गलत परम्पराओं का प्रतिकार कर सके?

आज हमारे स्वास्थ्य पर चारों तरफ से आक्रमण हो रहा है। सरकारी

मंत्रालयों की नीतियों में स्वास्थ्य गौण है। स्वास्थ्य के लिए हानिकारक प्रदूषण, पर्यावरण, दुर्व्यसनों के सेवन एवं अन्य दुष्प्रवृत्तियों पर प्रभावशाली कानूनी प्रतिबन्ध नहीं हैं। अपितु ये सरकारी संरक्षण में पनप रहे हैं। आज रक्षक ही भक्षक बन रहे हैं। मिलावट, अनैतिकता, दुराचरण आम बात हो गई है, सारा वातावरण पाशविक वृत्तियों से दूषित हो रहा है।

वैकल्पिक चिकित्सा के प्रति सरकारी सोच

जब तक सरकारी सोच में बदलाव नहीं आएगा, रोग के मूल कारणों को जानने व समझने की उपेक्षा होगी, दुष्प्रभावों की अनदेखी होगी, चिन्तन में तथ्यपरक अनेकान्त दृष्टिकोण नहीं आएगा, तब तक सरकार से अच्छे स्वास्थ्य हेतु सहयोग की अपेक्षा करना व्यर्थ होगा। इसी कारण जितने ज्यादा चिकित्सक बढ़ रहे हैं, अस्पताल खुल रहे हैं उससे तेज रफ्तार में नए-नए रोग व रोगियों की संख्या में वृद्धि हो रही है।

कारण चाहे जो हो तथाकथित वैकल्पिक चिकित्सा पद्धतियाँ सरकारी उपेक्षा की शिकार हैं। अभी तक सरकार द्वारा न तो उन पर शोध को अपेक्षित प्रोत्साहन दिया जा रहा है व न ही उनके प्रशिक्षण एवं उपचार व्यवस्था की ओर सरकार का विशेष ध्यान ही जा रहा है। भले ही वे चिकित्सा के मापदण्डों में सरकारी मान्यता प्राप्त विकसित और वैज्ञानिक समझी जाने वाली आधुनिक चिकित्सा पद्धति से काफी आगे ही क्यों न हों? विभिन्न देशों में उन पर व्यापक शोध, विकास और प्रचलन बढ़ने से विश्व स्वास्थ्य संगठन जैसी संस्थाओं का भी ध्यान आकर्षित हुआ ओर उन्हें मान्यता मिली परन्तु हमारे सरकारी तंत्र की सोच अपने पूर्वाग्रहों एवं दवा निर्माताओं के दबाव के कारण उस दिशा में अभी तक तो पूर्ण उपेक्षित है, भविष्य में क्या होता है, कहा नहीं जा सकता। उसका परिणाम यह हुआ मानो परीक्षा में 25 अंक प्राप्त करने वालों को सर्वश्रेष्ठ तथा 60 से 70 अंक प्राप्त करने वालों को अयोग्य घोषित किया जा रहा है। मैट्रिक पास व्यक्ति एम.ए. वालों को पढ़ाने की भूमिका निभा रहा है। क्या स्वास्थ्य मंत्रालय के सम्बन्धित नीति निर्माताओं ने वैकल्पिक चिकित्सा पद्धतियों के विशेषज्ञों से परामर्श कर समझने का प्रयास किया है? प्रकृति का यह मौलिक सिद्धान्त है कि रोग जिस स्थान, वातावरण एवं परिस्थितियों में उत्पन्न होता है, उसका उपचार उसी वातावरण, परिस्थितियों में उपलब्ध धरती के अवयवों में समाहित होता है। अतः पौराणिक चिकित्सा पद्धतियों के सिद्धान्त और उपचार का तरीका भारत की जलवायु एवं संस्कृति व वातावरण के ज्यादा अनुकूल होना चाहिए, जिस पर पूर्वाग्रह छोड़ अनेकान्त दृष्टि से वर्तमान परिप्रेक्ष्य में पुनः शोध एवं व्यापक चिन्तन आवश्यक है।

आधुनिक चिकित्सा को सर्वेसर्वा मानने का दुष्परिणाम

आधुनिक चिकित्सा पद्धति को अत्याधिक महत्त्व मिलने तथा सरकारी मान्यता, सहयोग और संरक्षण मिलने के कारण अधिकांश डाक्टरों में वैकल्पिक चिकित्साओं के प्रति गुण ग्राहवता नजर नहीं आती। कभी–कभी तो वे अनायास उन पर बिना सोचे–समझे आरोप अथवा मिथ्या प्रचार करते तनिक भी नहीं हिचकिचाते। जनमानस की उनके प्रति अटूट आस्था होने से उनके कथनों का जनता पर ज्यादा और जल्दी प्रभाव पड़ता है। क्लोन, जीन और टेस्ट ट्यूब बेबी के सफल परीक्षणों के कारण अब चन्द स्वास्थ्य वैज्ञानिक जनम और मृत्यु के नियंत्रण का दावा करते हुए भी संकोच नहीं करते। विज्ञापन, अन्धानुकरण, भीड़भाड़ वाले शीघ्रता के इस युग में अज्ञानवश अपनी क्षमताओं से अपरिचित होने के कारण तथा प्रकृति के सनातन सिद्धान्तों और आयुष्य कर्म के सिद्धान्तों पर विश्वास न होने के कारण आज के डाक्टरों को भगवान से ज्यादा महत्त्व मिल रहा है। कभी कभी डाक्टर ऐसा कहते सुने गए हैं कि समय पर डाक्टर की उपलब्धता के कारण रोगी को मृत्यु से बचाया जा सका, मानो अस्पतालो में डाक्टरों की उपस्थिति में शायद ही कोई मरता हो। दुष्प्रभावों की उपेक्षा तथा रोगी की विवशता के कारण मानव सेवा का यह कार्य मात्र स्वार्थ–पोषण और अर्थ उपार्जन तक सीमित होता जा रहा है। रोगी को निदान और उपचार के सम्बन्ध में उत्पन्न शंकाओं का सही समाधान नहीं बतलाया जा रहा है, परिणामस्वरूप अपनी असजगता के कारण आज रोगी डाक्टरों की प्रयोगशाला बन सकता है।

आधुनिक चिकित्सा को सरकारी मान्यता एवं सहयोग मिलने के कारण अन्य चिकित्सा पद्धतियों से जुड़े चिकित्सकों की मानसिकता बदलने लगी है। अपने सिद्धान्तों के आधार पर निदान कर उपचार करने के स्थान पर एलोपैथिक चिकित्सा पद्धति के निदान को आधार मान अधिकांश वैकल्पिक चिकित्सक अपनी–अपनी चिकित्सा पद्धतियों द्वारा रोगियों का उपचार कर रहे हैं। वैकल्पिक चिकित्सा के पक्ष में यदि कोई एलोपैथिक डाक्टर अपना मन्तव्य दे देता है तो उसे बढ़ा चढ़ा–कर प्रचारित और प्रसारित किया जाता है, परन्तु स्वयं की पद्धतियों से पूर्ण मनोवेग से जुड़े अनुभवी चिकित्सकों के परिणामों और अभिव्यक्तियों को आत्मविश्वास के साथ नहीं स्वीकारा जाता। जो चिकित्सा पद्धतियाँ दूसरी पद्धतियों के दृष्टिकोण एवं विचारों को आधार बना अपनी गुणवत्ता और प्रभावशाली क्यों न हो, ऐसे चिकित्सकों में प्रायः स्वयं की तथाकथित वैकल्पिक चिकित्सा के प्रति आत्मविश्वास का अभाव होता है।

सिद्धान्तानुसार स्वतंत्र निदान आवश्यक

अपने सिद्धान्तों के आधार पर स्वतंत्र निदान न करने से वैकल्पिक चिकित्सक की प्रभावशीलता कम हो जाती है। उदाहरण के लिए आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार रोग का कारण शरीर में वात, कफ और पित्त का असन्तुलन होता है। पुराने अनुभवी आयुर्वेद के विशेषज्ञ नाड़ी की गति देख शरीर में वात, कफ और पित्त के असंतुलन से उत्पन्न विकारों को आसानी से पता लगा लेते, परन्तु आज के आयुर्वेदाचार्य न तो नाड़ी विज्ञान के अनुसार निदान ही करते हैं और न अधिकांश वैद्यों को उसका अनुभव परख ज्ञान ही होता है। आयुर्वेद में पहले रोगों की लम्बी–चौड़ी नामावलियाँ नहीं थी और न उसके अनुरूप (पेचीदा) उपचार की विधियाँ ही थी। दवाईयों के माध्यम से दी जाने वाली जड़ी बूटियाँ शुद्ध एवं सात्विक होती थी। क्योंकि वे प्राकृतिक वातावरण से ही प्राप्त होने से ऊर्जा से ओतप्रोत व प्रभावशाली होती थी। उनमें रोग को जड़मूल से समाप्त करने की क्षमता होती थी। वैद्य स्वयं दवा का निर्माण करता था। अतः उसके भावों की तरंगों का भी उस पर प्रभाव होता था। परन्तु आयुर्वेद में भी आज जो दवाइयां उपलब्ध होती हैं, उनका निर्माण प्रायः कारखानों में होता है। अतः वे पूर्ण रूप से शुद्ध नहीं होती एवं उनमें शरीर के अवयवों को सनतुलित करने की क्षमता अपेक्षाकृत कम होती है। कारखानों में बनने वाली दवाओं का कानूनन परीक्षण मूक प्राणियों पर अनिवार्य होता है। अतः उन बेजुबान जानवरों पर क्रूरता, निर्दयता होने से उनकी बददुवाओं की तरंगें दवा लेने वालों को प्रभावित किए बिना नहीं रहती। अर्थात् मूल सिद्धान्त के अनुसार निदान और उपचार न करने से उपचार की प्रभावशीलता कम हो जाती है।

एक्यूप्रेशर की रिफ्लेक्सोलॉजी एवं सुजोक चिकित्सा पद्धति के सिद्धान्तानुसार हथेलियों और पगथलियों में हमारे शरीर की समस्त नाड़ियों के प्रतिवेदन बिन्दु होते हैं। हथेली और पगथली के जिस भाग में दबाव देने से दर्द या पीड़ा का अनुभव होता है, वहाँ विजातीय तत्वों के जमाव होने की सम्भावना रहती है तथा उनके कारण उनसे स्म्बन्धित शरीर के भाग में ऊर्जा का प्रवाह अन्सतुलित हो जाता है, जो स्वास्थ्य की भाषा में रोग होता है। एक–सा दबाव देने पर जहाँ ज्यादा दर्द करने वाले प्रतिवेदन बिन्दुओंका रोग से सीधा सम्बन्ध होता है तथा कम दर्द वाले प्रतिवेदन बिन्दुओं का सम्बन्ध रोग के परोक्ष कारणों से होता है। दर्द वाले सारे प्रतिवेदन बिन्दु रोग के पारिवारिक सदस्य होते हैं परन्तु आज एक्यूप्रेशर थैरेपिस्ट भी निदान के मूल सिद्धान्तों से हट कर मात्र रोग से प्रत्यक्ष प्रभावित अंगों के प्रतिवेदन बिन्दुओं का उपचार हेतु निर्धारण करते हैं। सीमित प्रतिवेदन बिन्दुओं पर उपचार करने से प्रभावशाली एक्यूप्रेशर का प्रभाव भी सीमित हो जाता है। कहने का आशय यही है कि आधुनिक चिकित्सा पद्धति को अत्यधिक महत्त्व मिलने से अन्य वैकल्पिक

चिकित्सक रोगियों का अपने मूल सिद्धान्तानुसार स्वतंत्र निदान नहीं करते और न रोगी का पूर्ण उपचार ही करते हैं। परिणामस्वरूप वैकल्पिक चिकित्साओं में असाध्य समझे जाने वाले बहुत से रोगों का सहज, सरल उपचार होते हुए भी जनसाधारण को उसका शीघ्र लाभ नहीं मिलता।

ऐसी परिस्थितियों में जन साधारण भारत की पौराणिक प्रभावशाली चिकित्सा प्रद्धतियों को सन्देहास्पद समझे तो आश्चर्य नहीं है। कोई भी चिकित्सा पद्धति अपने आप में सम्पूर्ण नहीं होती और न ही कोई चिकित्सा पद्धति ऐसी होती है, जिसमें कोई विशेषता ही न होती हों। अर्थात् जो अंग्रेजी चिकित्सा पद्धति के सिद्धान्त, मान्यताएँ, धारणाएँ हैं, वे ही सम्पूर्ण सत्य है और बाकी सभी चिकित्सा पद्धतियों को अवैज्ञानिक, अनुपयोगी, अविकसित, अनावश्यक बतला कर उपेक्षा करना कदापि उचित नहीं है। किसी तथ्य को बिना सोचे–समझे स्वीकार करना मूर्खता है, तो किसी अनुभूत सत्य को बिना सोचे समझे नकारना भी बुद्धिमता नहीं कहा जा सकता। हम किसी बात पर विश्वास न करें, परन्तु उस सम्बन्ध में बिना पूर्ण जानकारी, अज्ञानवश अविश्वास करना भी उचित नहीं है। जिस प्रकार यदि कोई अशिक्षित व्यक्ति अनुभवी डाक्टरों की भरी सभा में चिकित्सा विषयों पर अधिकारपूर्वक बोले तो उसकी बात का क्या महत्त्व? उसकी क्या सार्थकता? उसी प्रकार जानकारी के अभाव में किसी विषय पर नीति सम्बन्धी अभिमत देना नासमझी है।

अवैज्ञानिक चिकित्सा पद्धतियों पर प्रतिबन्ध क्यों नहीं?

यदि किसी अवैज्ञानिक पद्धति द्वारा राष्ट्र में सार्वजनिक रूप से उपचार किया जा रहा हो, स्वयं सेवी संस्था अथवा व्यक्तिगत स्तर पर ऐसी पद्धतियों का प्रचार–प्रसार हो रहा हो, तो उन पर प्रतिबिन्ध क्यों नहीं लगाया जाता? उन पर अंकुश लगाने का दायित्व किनका?

आज अधिकांश असाध्य एवं संक्रामक रोगों की जड़ अथवा मूल कारण गर्भावस्था अथवा रोग की प्रारम्भिक अवस्था में ही अकारण, अनावश्यक शारीरिक स्वचालित, स्वःनियंत्रित क्रियाओं से छेड़छाड़ करना, दुष्प्रभावों की उपेक्षा कर दवाओं और रोग निरोगधक टीके लगाकर शरीर की रोग प्रतिकारात्मक क्षमताओं को क्षीण करना है। सही निदान के अभाव में गलत उपचार, विकल्प होते हुए शल्य चिकित्सा को प्राथमिकता देना आदि कारण मुख्य होते हैं। आज प्रजनन में शल्य चिकित्सा आम बात हो गई है। शरीर में कोई अंग, उपांग व्यर्थ नहीं होता। जहाँ उपचार के अन्य विकल्प उपलब्ध हों, शल्य चिकित्सा द्वारा शरीर में छेड़छाड़ करना, जीवन भर रोगों को आमंत्रण देना है। ऐसे उपचारों का आधार वैज्ञानिक कैसे हो सकता है?

अच्छी चिकित्सा पद्धति के मापदण्ड

अच्छी चिकित्सा पद्धति शरीर को आरोग्य ही नहीं, निरोग रखती है। अर्थात् इससे शरीर में रोग उत्पन्न ही ही होता। रोग होने का कारण आधि (मानसिक रोग), व्याधि (शारीरिक रोग), उपाधि (कर्मजन्य) के विकार होते हैं। अतः अच्छी चिकित्सा तीनों प्रकार के विकारों को समाप्त कर समाधि दिलाने वाली होती है। अच्छी चिकित्सा पद्धति के लिए आवश्यक है –– रोग के मूल कारणों का सही निदान, स्थायी एवं प्रभावशाली उपचार। इसके साथ–साथ जिस पद्धति में रोग का प्रारम्भिक अवस्था में ही निदान हो सके तथा जो रोगों को रोकने में सक्षम हो। जो पद्धति सहज हो, सरल हो, सस्ती हो, स्वावलम्बी हो, दुष्प्रभावों से रहित हो, पूर्ण अहिंसक हो तथा जिसमें रोगों की पुनरावृत्ति न हो। जो चिकित्सा शरीर को स्वस्थ करने के साथ–साथ मनोबल और आत्मबल बढ़ाती हो तथा जो सभी के लिए, सभी स्थानों पर सभी समय उपलब्ध हो। अच्दी चिकित्सा पद्धति के तो प्रमुख मापदण्ड यही होते हैं। जो चिकित्सा पद्धतियाँ इन मूल सनातन सिद्धान्तों की जितनी ज्यादा पालन करती है, वे उतनी ही अच्छी चिकित्सा पद्धतियाँ होती है। अच्दी चिकित्सा का मापदण्ड भीड़ अथवा विज्ञापन नहीं होता अपितु अन्तिम परिणाम होता है। मात्र रोग में राहत ही नहीं, स्थायी उपचार होता है। दवाओं की दासता से मुक्ति होती है। अतः जो रोगी उपचार से पूर्व निदान और उपचार की सत्यता पर अपनी शंकाओं का चिकित्सक से सन्तोषजनक समाधान प्राप्त करने के पश्चात् उपचार कर पाता है, वह शीघ्र ही रोगमुक्त हो जाता है।

युवा चिकित्सक एक रोग की पचास दवाएँ रखता है। चिकित्सक पचास रोगों की एक दवा और महान् चिकित्सक किसी भी रोग की कोई दवा नहीं रखता। हम स्वयं निर्णय करें, कौन सा उपचार अच्छा है?

उपचार करते समय रोगी से तालमेल आवश्यक

अच्छे चिकित्सक का कार्य रोगी को जाग्रत करने का प्रयास होता है। उसका मनोबल, आत्मबल और सद्विवेक जाग्रत कर रोगी को उसकी क्षमताओं से परिचय कराने का होता है। सभी रोगी एक जैसे नहीं होते और न सभी रोगी अच्छे से अच्छे डाक्टर से ठीक भी होते हैं। जिसके अन्दर का तत्त्व जितना–जितना जाग्रत होगा, उतना–उतना उस पर प्रभाव पड़ेगा। अतः चिकित्सक को, रोगी को रोग से साक्षात्कार कराना होगा। रोग के मूल कारणों को समझ उनसे बचने हेतु प्रेरित करना होगा। रोगी से तालमेल (Tunning) करनी होगी। रोग का प्रभाव प्रहले मस्तिष्क में होता है एवं उसके पश्चात् उसकी अभिव्यक्ति होती हैं। प्रायः हम देखते हैं, जब कोई नुकसान होता है तो मस्तिष्क उस हानि का आकलन करता है। तत्पश्चात् उसके अनुरूप प्रायः व्यक्ति को दुःख होता है, अथवा क्रोध आता है। इसी

प्रकार जब कोई बुद्धिमान, समझदार व्यक्ति बचकानी हरकत अथवा अनहोनी शारीरिक चेष्टाएँ करता है तो मस्तिष्क की प्रतिक्रियानुसार हमें हँसी आती है, जबकि यदि कोई बच्चा वैसा ही आचरण करता है तो हमारा ध्यान उस पर नहीं जाता है, और न हम किसी प्रकार की प्रतिक्रियाएँ ही करते हैं। अतः जो रोगी चिकित्सा के प्रति सजग होगा, समर्पित होगा, चिन्तनशील होगा, उपचार के साथ अपनी मानसिकता, विवेक, विश्वास, भागीदारी रखेगा, उतना ही उपचार प्रभावशाली होगा। असजगता और शंकाशीलता उपचार के प्रभाव को घटाते हैं।

उपचार से पूर्व निदान की सच्चाई पर चिन्तन आवश्यक

जानवर चिन्तन और मनन नहीं कर सकता। मनुष्य ही अपनी बुद्धि, ज्ञान एवं सद्विवेक द्वारा भविष्य में आने वाली विपत्तियों से अपने आपको बचा सकता है। जो अपना भला बुरा न सोचे, दुष्प्रभावों की उपेक्षा करे, निदान और उपचार के तौर तरीके का विश्लेषण न करे, उसमें और पशु में क्या अन्तर है? उपचार से पूर्व रोगी को यथासम्भव निदान की सत्यता एवं उपचार की यथार्थता से आत्म–साधना करना चाहिए।

उपचार से पूर्व स्वास्थ्य के प्रति सजग व्यक्तियों को रोग का कारण एवं चिकित्सकों द्वारा निवारण हेतु दिए जा रहे उपायों हेतु अपनी शंकाओं का स्पष्टीकरण प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। जैसे किसी व्यक्ति के घुटनों में दर्द है, तो चिकित्सक से उसका कारण जानना चाहिए। दवा उस कारण को कैसे दूर करेगी? शरीर में उससे आवश्यक अवयव कौन बनाता है और उन अवयवों से कौन–कौन से तंत्र प्रभावित होते हैं? उस अवयव की कमी का उससे सम्बन्धित शरीर के अन्य स्थानों अथवा तंत्रों पर प्रभाव क्यों नहीं पड़ा? जैसे दूसरे घुटने अथवा अन्य जोड़ों में दर्द क्यों नहीं आया? जो इंजेक्शन अथवा दर्दनाशक दवाएं डाक्टर दे रहा है, वे रोगग्रसित स्थान पर ही क्यों नहीं दी जाती? क्या दवा में आवश्यक अवयवों की मात्रा का निर्धारण कम अथवा ज्यादा तो नहीं है? दवा से क्या–क्या दुष्प्रभाव सम्भावित हैं? मुँह में ली गई दवा का प्रभाव दर्द वाले स्थान पर कैसे और कितना पहुंचता है? दवा का प्रभाव कितनी देर तक रहता है? स्थायी क्यों नहीं? ऐसे सम्बन्धित प्रश्नों पर उपचार लेते समय रोगी अथवा उसके परिजनों को चिन्तन कर सम्यक् समाधान प्राप्त करना चाहिए? इतनी सजगता, जागृति और स्वविवेक जाग्रत होने से उपचार के प्रति रोगी की मानसिकता और आत्मविश्वास बढ़ेगा, उस पर अन्धेरे में उपचार नहीं होगा तथा ऐसा उपचार निश्चिम रूप से प्रभावशाली होगा, भले ही किसी भी पद्धति द्वारा क्यों न किया जाए?

आधुनिक चिकित्सा को प्राथमिकता क्यों?

स्वास्थ्य विज्ञान की भौतिक उपलब्धियों तथा रोगों में तुरन्त राहत दिलाने की क्षमता के कारण, आज का मानव आधुनिक (एलोपैथिक) चिकित्सा पद्धति से अत्यधिक प्रभावित है। उसी को वैज्ञानिक मानता है क्योंकि एलोपैथिक चिकित्सा के पास जनसाधारण को आकर्षित करने हेतु सशक्त तर्क, निदान एवं उपचार हेतु काम में लिए जाने वाले नीवनतम उपकरणों की सुविधाएँ हैं तथा रोग को दबाकर शीघ्र राहत पहुँचाने वाली कला है। अपने प्रयोगों, परीक्षणों के परिणामों की सफलता एवं उपलब्धियों के आंकड़ों को व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत करने का तरीका है। प्रत्यक्ष को प्रमाण की क्या आवश्यकता? उपर्युक्त सारी बातें अन्य चिकित्सा पद्धतियों में प्रायः न तो सरल हैं और न ही इतनी व्यवस्थित ढंग से अभी तक उपलब्ध हैं।

आधुनिक चिकित्सा पद्धति के दुष्प्रभावों के बावजूद जनसाधारण का उसके प्रति इतना आकर्षण क्यों? इसका मुख्य कारण वैकल्पिक चिकित्साओं में आवश्यकता के अनुरूप अनुभवी चिकित्सकों, व्यवस्थित संचालित अस्पतालों का अभाव है। एलोपैथिक चिकित्सा को सरकारी संरक्षण एवं मान्यता प्राप्त होने के कारण राज्य कर्मचारियों को उपचार हेतु सहयोग दिया जाता है तथा वे इसमें हुए व्यय के भुगतान के लिए वे ही अधिकृत होते हैं, जबकि अन्य चिकित्सा का खर्चा प्रायः मान्य नहीं होता। तीसरी बात, व्यक्ति अपनी क्षमताओं से अपरिचित होता है। चौथा कारण, आज का मानव जीवन पूर्णतयां परावलम्बी होता जा रहा है। तात्कालिक राहत प्राप्त करने हेतु वह दुष्प्रभावों को गौण कर देता है। कहने का आशय यही है कि अज्ञान, अविवेक, सद्चिन्तन की कमी, धैर्य एवं सहनशक्ति का अभाव होने के कारण ही अधिकांश व्यक्ति आधुनिक चिकित्सा पद्धति को सर्वप्रथम अपनाना चाहते हैं।

कभी–कभी तीव्र रोगों की स्थिति में जिनमें तुरन्त राहत अनिवार्य होती है, जैसे हृदयाघात, तीव्रतम अस्थमा, चोट के कारण रक्त का बहाव, जलन, विषपान, दुर्घटना आदि में रोगी और परिजन को उपलब्ध सुविधा के अनुसार एलोपैथिक चिकित्सा का ही सहारा लेना पड़ता है। थोड़ी–सी असावधानी अथवा देरी भविष्य में अधिक हानिकारक हो सकती है। ऐसी परिस्थितियों में स्वाभाविक रूप से किसी की भी मानसिकता वैकल्पिक चिकित्सा करवाने की नहीं होती है। इसका यह अर्थ नहीं कि एलोपैथिक चिकित्सा में ही सभी परिस्थितियों का सम्यक् समाधान होता है और वैकल्पिक चिकित्सा में ऐसी परिस्थितियों में तुरन्त राहत पहुँचाने की क्षमता न हो, फिर भी बिना अनुभवी चिकित्सकों के उपचार एवं प्रयत्न किए अन्य वैकल्पिक चिकित्सा को अप्रभावशाली बतलाना न्यायसंगत नहीं। जो अनुभवी चिकित्सकों के द्वारा वैकल्पिक चिकित्सा को अपनाते है, उनके परिणाम भी काफी सन्तोषजनक, स्थायी और अधिक प्रभावशाली होते हैं।

आज का चिन्तनशील मानव स्वास्थ्य के प्रति जितना चिन्तनशील होना चाहिए, प्रायः कम लगता है। उसको अपनी क्षमता पर विश्वास नहीं। पूरी सोच भीड़, भ्रमित विज्ञापनों एवं मायावी आंकड़ों से प्रभावित होने के कारण वैकल्पिक चिकित्सा के प्रति जितनी श्रद्धा, विश्वास, समर्पण होना चाहिए, नहीं होता।

वैकल्पिक चिकित्सा सस्ती होने के कारण अर्थ उपार्जन हेतु उपयुक्त नहीं और न महंगे विज्ञापनों द्वारा उसका प्रचार–प्रसार सम्भव होता है। आज विज्ञान के साथ–साथ विज्ञापन एवं शीघ्रता का भी युग है। विज्ञापन के माध्यम से किसी भी पदार्थ की उपयोगिता जन–जन तक पहुँचायी जा सकती है, परन्तु दुर्भाग्यवश मिथ्या विज्ञापन पर कानूनी प्रतिबन्ध न होने से अधिकांश नियमित प्रसारित होने वाले विज्ञापनों में छल, कपट, माया, मिथ्या प्रचार ज्यादा होता है। ज्यादा लाभ कमाने की प्रवृत्ति ही उसका एक मात्र उद्धेश्य होती है। अधिक विज्ञापन उन्हीं को प्रभावित करते हैं, जहाँ चिन्तन एवं स्वविवेक का अभाव होता है। जो स्वास्थ्य विजान के मूल सिद्धान्तों की जानकारी के अभाव में मात्र भीड़ का अनुसरण करते हैं। अपना भला–बुरा, हानि–लाभ के दीर्घकालीन प्रभावों का विचार नहीं करते। जिनमें स्वयं निर्णय लेने एवं तर्क करने की क्षमता नहीं होती। इसी कारण स्वास्थ्य के नाम पर प्रसारित होने वाले अधिकांश विज्ञापनों में प्रायः थोथे, मन–लुभावने एवं भ्रमित करने वाले नारे और भाषा का प्रयोग किया जाता है ताकि जनसाधारण उस पदार्थ की तरफ सहज आकर्षित हो सके। कहने का आशय यही है कि आधुनिक चिकित्सा का आधार विज्ञान से ज्यादा विज्ञापन है। कारण चाहे जो हो सत्य सनातन होता है। किसी गलत्र रूझान अथवा दुष्प्रचार अथवा भ्रांमक विज्ञापनों पर आधारित मान्यताओं का निवारण तर्कसंगत व सही विकल्प समझा कर ही किया जा सकता है।

विज्ञापनों से प्रभावित उपचार

आज चिकित्सा के बारे में असमंजस की स्थिति है। अधिकांश प्रचलित चिकित्सा पद्धतियों से सम्बन्धित चिकित्सा प्रायः एकपक्षीय चिन्तन के पूर्वाग्रहों से ग्रासित होते है। उनके चिन्तन में समग्रता एवं व्यापक दृष्टिकोण एवं समन्वय का अभाव होता हे। जनसाधारण से ऐसी अपेक्षा भी नहीं की जा सकती कि वे शरीर, स्वास्थ्य और चिकितसा पद्धतियों के बारे में विस्तृत जानकारी रखें। अधिकांश रोगियों को न तो रोग के बारे में सही जानकारी होती हैं और न वे अप्रत्यक्ष रोगों को रोग ही मानते हैं। जब तक रोग के स्पष्ट लक्षण प्रकट न हो जाएँ, रोग सहनशक्ति के बाहर नहीं आ जाता, तब तक शरीर में उपस्थित विकारों, असन्तुलनों, विजातीय तत्त्वों, जो रोग के जनक होते हैं, ध्यान ही नहीं जाता। रोग के लक्षण प्रकट होने के बाद भी रोगी का एक मात्र उद्धेश्य येन–केन–प्रकारेण उत्पन्न लक्षणों को हटा अथवा दबाकर तुरन्त राहत पाने का होता है। जैसे ही उसे आराम मिलता

है, रोगी अपने आपको रोगमुक्त समझने लगता है।

रोगी रोग का कारण स्वयं को नहीं मानता और न अधिकांश चिकित्सक उपचार में रोगी की सजगता एवं मानसिक भागीदारी को आवश्यक समझते हैं। प्रायः डाक्टरों के पास उमड़ने वाली भीड़ और विज्ञापन ही उसको उपचार की विधि चुनने हेतु प्रेरित करते हैं। रोगी का डाक्टर एवं दवा के प्रति आवश्यकता से आधिक विश्वास होने तथा स्वयं के अज्ञान, अविवेक, असजगता के कारण तथा तर्क पूर्ण सम्यक् चिन्तन के अभाव में वह निदान की सत्यता और किए जा रहे उपचार की उपयोगिता एवं प्रभाव की यथार्थता का चिकित्सक से स्पष्टीकरण माँगना आवश्यक नहीं समझता और चिकित्सक भी कभी–कभी रोगी के प्रश्नों की उपेक्षा कर देते हैं। दुष्प्रभावों की उपेक्षावृत्ति के कारण कभी–कभी रोगी डाक्टरों की प्रयोगशाला बन जाए तो भी आश्चर्य नहीं। ऐसे असजग रोगी विभिन्न प्रचलित परावलम्बी दवाओं पर आधारित चिकित्सा पद्धतियों में उपचार से अपेक्षित परिणाम न मिलने के कारण हतोत्साहित हो, जब प्रभावशाली स्वावलम्बी अहिंसात्मक चिकित्सा के अनुभवी चिकित्सकों के पास पहुँचते हैं, तब तक उनका मनोबल प्रायः टूट चुका होता है। वे रोग से निराश और परेशान होते हैं, तब ही उनका विज्ञापनों पर आधारित चिकित्सवा पद्धतियों के प्रति भ्रम दूर होता है। अपने आपको और अधिक डाक्टरों की प्रयोगशाला न बना सकें, इस हेतु व अधिक सजग जाए जाते हैं। उपचार से पूर्व वे निम्न स्पष्टीकरण अवश्य पूछते हैं।

1. क्या उनके रोग का उपचार सम्भव है?
2. आपने ऐसे कितने रोगियों का सफल उपचार किया?
3. मैं कब तक रोगमुक्त हो जाऊँगा?
4. उपचार का कोई दुष्प्रभाव तो नहीं पड़ेगा?

यदि उपर्युक्त स्पष्टीकरण रोग का प्रारम्भिक उपचार करते समय ही चिकित्सक से पूछ ले और निदान व उपचार के तौर–तरीक़े पर चिन्तन–मनन करने के पश्चात ही चिकित्सा प्रारम्भ कराएं, तो चाहे जिस चिकित्सा से उपचार कराए, निश्चिम रूप से रोगी को लाभ पहुँचेगा और रोगी डाक्टरों की प्रयोगशाला बनने से अपने आपको बचा लेगा।

अध्याय – 7

स्वास्थ्य अच्छा रखना हो तो आध्यात्मिक होइए

स्वास्थ्य का सम्यक् दर्शन

सम्यक् दर्शन का सीधा–सादा सरल अर्थ होता है – सही दृष्टि, सत्य दृष्टि, सही विश्वास। अर्थात् जो वस्तु जैसी है, जितनी महत्त्वपूर्ण है, जितनी उपयोगी है, उसको उसके स्वरूप, गुण एवं धर्म के आधार पर जानना, मानना और उसके अनुरूप आचरण करना। सम्यक् दर्शन से स्वविवेक जाग्रत होता है। स्वदोष दर्शन की प्रवृत्ति विकसित होती है। आत्मा और शरीर का भेद ज्ञान होता है। आत्मा का साक्षात्कार होने से उसकी अनन्त शक्ति का भान होने लगता है।

सम्यक् दर्शन होने पर व्यक्ति में पूर्वाग्रह एवं एकान्तवादी दृष्टिकोण समाप्त होने लगेगा। रोग में रोगी स्वयं की भूमिका ढूँढ़ेगा एवं रोग के कारणों से बचने हेतु सजग एवं सक्रिय रहेगा। रोग होने की स्थिति में उसके लिए दूसरों को दोष देने के बजाय, स्वयं की गलतियों को ही रोग का कारण मानेगा तथा धैर्य और सहनशीलता प्रर्वक उसका उपचार करेगा। उपचार कराते समय तात्कालिक राहत से प्रभावित नहीं होगा, दुष्प्रभावों की उपेक्षा नहीं करेगा। उपचार कराते समय उसमें काम में लिए जाने वाले साधन, सामग्री की पवित्रता का ध्यान रखेगा। अपने उपचार हेतु, अन्य प्राणियों के साथ प्रत्यक्ष–परोक्ष रूप से हिंसा, क्रूरता, निर्दयता का आचरण न तो स्वयं करेगा, न करवाएगा और न करने वालों को प्रोत्साहन देगा। यथार्थ दृष्टिकोण जीवन निर्माण की सबसे प्राथमिक आवश्यकता है कि व्यक्ति की जैसी सोच, दृष्टि होगी वैसे ही उसके जीवन की सृष्टि होगी। सम्यक् दर्शन जीवन का प्राण है क्योंकि इसी से जीवन को सही दृष्टि प्राप्त होती है।

स्वास्थ्य हेतु सम्यक् आचरण आवश्यक

परन्तु आजकल अधिकांश व्यक्ति अपना सारा चिन्तन और प्रयास शारीरिक स्वास्थ्य तक ही सीमित रखते हैं। जब तक शरीर में दर्द अथवा बेचैनी,

कमजोरी अथवा निष्क्रियता के लक्षण स्पष्ट रूप से प्रकट नहीं हो जाते तब तक अपने आपको पूर्ण स्वस्थ ही समझते हैं। आत्मा के विकार जो रोग उत्पन्न करने में प्रभावशाली भूमिका रखते हैं, उनकी पूर्ण उपेक्षा कर स्वस्थ रहने की कल्पना करते हैं, जो कभी भी सम्भव नहीं है।

आत्मा ही जीवन है

हमारे जीवन का प्रारम्भ और अन्त शरीर मैं आत्मा यानी जीव या चेतना की उपस्थिति पर निर्भर करता है। मृत्यु के पश्चात शरीर से ऐसा कौनसा तत्त्व है, जिसके निकल जाने के पश्चात इस जड़/निर्जीव/अचेतन शरीर को कोई मूल्य नहीं होता? मृत्यु के पश्चात भी शरीर में प्रत्यक्ष रूप में सभी अंगों, उपांगों, भौतिक इन्द्रियों की उपस्थिति होने के बावजूद सभी क्यों निष्क्रिय हो जाते हैं? इस नश्वर/जड़ शरीर को मृत्यु के पश्चात शीघ्रातिशीघ्र जलाकर या दफनाकर अथवा अन्य किसी विधि द्वारा नष्ट करना ही क्यों श्रेयष्कर होता है? मृत्यु के पश्चात डाक्टरों की विश्वासपात्र, प्राणदायिनी आक्सीजन, रक्त, जीवन रक्षक दवा और इंजेक्शन, जड़ी बूटिया, यंत्र, तंत्र, मंत्र, यौगिक क्रियाएं एवं लम्बे–चौड़े दावे करने वाले डाक्टर और चिकित्साएँ क्यों प्रभावहीन हो जाते हैं? इसक अभिप्राय यही है कि जीवन के लिए आवश्यक दवा, पानी, भोजन, धूप आदि प्राकृतिक ऊर्जाओं तथा उपचार के अन्य साधन शरीर में जब तक आत्मा होती है, जीवन संचालन में सहयोगी मात्र होते हैं। तभी तक उनका जीवन संचालन में सहयोग होता है।

अतः आत्मा ही जीवन का आधार होती है। फलतः हमें जानना और समझना होगा कि आत्मा क्या है? जन्म से पूर्व और मृत्यु के पश्चात उसका क्या अस्तित्व होता है? उसमें कितनी शक्ति होती है? जन्म और मृत्यु का चक्र क्यों चलता है? आत्मा को प्रभावित करने वाले प्रमुख तत्त्व कौनसे होते हैं? इसकी ऊर्जा क्यों क्षीण अथवा निष्क्रिय हो जाती है तथा उसको कैसे बढ़ाया जा सकता है? शरीर, मन, मस्तिष्क, भाव, वाणी आदि का व्यवस्थित निर्माण कौन और कैसे करता है? सभी व्यक्तियों का रंग, रूप, आकार में एकरूपता क्यों नहीं होती? सभी को संयोग–वियोग, प्रतिकूलताएँ–अनुकूलताएँ, सुख–दुःख का अलग–अलग वातावरण क्यों मिलता है? उनका नियंत्रण कौन और कैसे करता है? कोई जन्म से ही विकलांग अथवा रोगग्रस्त क्यों होता है? इन सभी प्रश्नों का समाधान आत्मा और शरीर के भेद को समझने से मिल जाता है। आत्मा और शरीर में कौन ज्यादा महत्त्वपूर्ण है, शक्तिशाली है, उपयोगी है, सनातन है, अपना है अथवा पराया है, आसानी से समझा जा सकता है।

आत्मा से सम्बन्धित चन्द पारिभाषिक शब्दावली

आत्मा पर कर्मों से पड़ने वाले प्रभाव एवं उससे अलिप्त होने के कारणों को समझने के लिए चन्द पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान आवश्यक है, जिनका प्रयोग प्रस्तुत पुस्तक में किया गया है।

1. संसारी आत्मा — जो आत्मा कर्मों में लिप्त होती है।
2. मुक्तात्मा — जो आत्मा कर्मों से मुक्त होती है।
3. आत्मा — जीव अथवा चेतना का स्रोत।
4. पुद्गल — जिसमें वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि हो।
5. कर्म — आत्मा को आवृत कर उसके साथ दूध में पानी की भाँति एकाकार होने वाले सूक्ष्मतल पुद्गल परमाणुओं को कर्म कहते हैं।
6. आस्रव — कर्म ग्रहण करने वाली आत्मा की अवस्था को आस्रव कहते हैं।
7. संवर — कर्म का निरोध करने वाली आत्मा की अवस्था को संवर कहते है। अर्थात् जिस अवस्था में आत्मा कर्मों से आवृत नहीं होती।
8. निर्जरा — चैतन्य आत्मा से कर्मों को अलग करने वाली प्रवृत्ति को निर्जरा कहते हैं।
9. बन्ध — आत्मा के साथ कर्म पुद्गलों का दूध में पानी की भाँति एकाकार हो जाना।
10. कर्म विपाक — कर्मों का फल देना या उदय में आना अथवा अपना प्रभाव बतलाना।
11. उदीरणा — नियत समय से पहले कर्मों का फल प्राप्त करना।
12. पर्याप्ति — ऊर्जा के मूल स्रोत जिससे शरीर, मन, वाणी आदि का निर्माण होता है।
13. योग — मन, वचन और काया के द्वारा होने वाली प्रवृतियाँ।
14. करण — करना, कराना, अनुमोदन करना जैसे स्वयं मन से, स्वयं वचन से, स्वयं काया से करना अथवा दूसरों से करवाना अथवा करने वाले का अनुमोदन करना।
15. औदारिक (स्थूल) शरीर सप्त धातुओं (अस्थि, मज्जा, माँस, रक्त, वीर्य आदि) से बना स्थूल शरीर।

16. तेजोमय शरीर प्राण शरीर/विद्युत शरीर।

17. कार्मण शरीर आत्मा को कर्मों से आच्छादित करने वाला शरीर।

18. लेश्या आत्मा पर आई चिकनाहट (शुभाशुभ भाव) जो कर्मों को आत्मा से चिपकाती है।

19. मिथ्यात्व असत्य अथवा अधूरे सत्य को पूर्ण सत्य मानना। आत्मा के अस्तित्व पर श्रद्धा न होना।

20. कषाय आत्मा को कलुषित करने वाले क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष की वृत्तियाँ।

21. प्रमाद आत्म विकास के प्रति असजगता/ उपेक्षावृत्ति।

22. अव्रत दृढ़ संकल्प शक्ति का अभाव। मन एवं भावों की अस्वच्छ अवस्था।

आत्मा ही स्वास्थ्य का मूलाधार

स्वास्थ्य विज्ञान का मूलाधार आत्मा है। प्रत्येक जीव जीना चाहता है, मरना कोई नहीं चाहता। प्रत्येक जीव स्वाधीन, स्वतंत्र रहना चाहता है। पराधीनता, परावलम्बन और बन्धन उसे पसन्द नहीं। तीसरी बात प्रत्येक जीव शान्त, सुखी और स्वस्थ रहना चाहता है। संसार का यह सनातन सिद्धान्त है। जितना–जितना इन सनातन नियमों के पालन में सद् आचरण, सम्यक् चिन्तन द्वारा प्रत्यक्ष परोक्ष रूप से सहयोग किया जाएगा उतना–उतना पुण्य अथवा शुभ कर्मों का उपार्जन होगा। इसके विपरीत इन सिद्धान्तों की पालना में जितना जितना व्यवधान डाला जाएगा, अवरोध पैदा किया जाएगा, उतना–उतना अशुभ कर्मों का या पाप का उपार्जन होता जाएगा। जो पाप से डरेगा, वह पाप के कार्यों से बचेगा। अतः हमारा जीवन पाप और पुण्य, शुभ और अशुभ कर्मों से प्रभावित होता है। जब जीवन में पाप का पलड़ा भारी हो जाता है अथवा अशुभ कर्मों का उदय होता है तो हमारे प्रतिकूल परिस्थितियाँ, वियोग, दुःख, पीड़ा, तनाव, रोग आदि के प्रसंग बनते हैं। अतः स्वस्थ रहने के लिए अशुभ कर्म के बन्धनों के कारणों को समझ उनसे बचने का यथा सम्भव प्रयास करना चाहिए।

आत्मा का अस्तित्त्व

आत्मा अरूपी है। वर्ण, गन्ध, रस, शब्द, स्पर्श रहित है। अतः इन्द्रियों के द्वारा उसकी क्षमताओं का पूर्ण ज्ञान नहीं किया जा सकता। इन्द्रिय ज्ञान का विषय केवल दृश्य–जगत तक ही सीमित होता है। इसी कारण इन्द्रिय ज्ञान को ही सब कुछ मानने वाले आत्मा के अस्तित्त्व को नहीं मानते। इन्द्रिय ज्ञान पौद्गलिक (भौतिक/जड़) साधनों की अपेक्षा रखता है। साधन जितने शक्तिशाली होंगे, अच्छे और प्रबल होंगे, ज्ञान उतना ही स्पष्ट होगा। जिन दूरस्थ सूक्ष्म पदार्थों को हम साध

ारणतया अपनी आँखों से नहीं देख सकते, उनको यंत्रों की सहायता से देखा जा सकता है तथा जिन्हें यंत्रों की सहायता से भी नहीं देख सकते, उनको आत्मिक ज्ञान का विकास होने पर देख सकते हैं। जैसे स्मृति होने पर अप्रत्यक्ष पूर्वघटित घटनाओं को प्रायः हम देखते हैं।

इन्द्रियों से पदार्थों का बाहरी ज्ञान ही हो सकता है। यंत्र चाहे जितना शक्तिशाली क्यों न हो, हम इन्द्रिय ज्ञान से परे की वस्तु को नहीं पहचान सकते? अतः हम चाहे कितना ही समय या शक्ति क्यों न लगा दें, हम आधुनिक विकसित यंत्रों से पदार्थों के असली स्वरूप का पूर्ण रूप से पता नहीं लगा सकते। यंत्रों द्वारा प्राप्त आज का ज्ञान कल अज्ञान में परिणित हो सकता है। भूतकाल का ज्ञान चन्द बातों में आज गलत प्रमाणित हो चुका है और आज का भौतिक ज्ञान भविष्य में अज्ञान समझा जाए तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए। आत्मिक बल को भौतिक यंत्रों से नहीं मापा जा सकता। आत्मानुभूतियाँ स्वयं अपने आपमें उसके अस्तित्त्व को बोध कराती है। जिन्हें भौतिक परीक्षणों अथवा प्रयोगों के द्वारा पूर्ण रूप से जानना सम्भव नहीं। सत्य की ताकत सत्य बोलने वाला ही जान सकता है। सत्य बोलने वालों के मन में कितनी शान्ति, एवं निर्भयता मिलती है, उसका अनुभव तो सत्य बोलने वाला ही कर सकता है। युद्ध में हजारों योद्धाओं को जीतने वाला वीर अपने आपको क्यों नहीं जीत पाता? आत्म बल भाषण, लेखन अथवा अभिव्यक्ति का विषय नहीं होता। पानी पीने से प्यास बुझती है। अतः जनसाधारण को यह जानने की आवश्यकता नहीं कि पानी पीने से प्यास क्यों बूझती है? अनुभव द्वारा आत्मा के अस्तित्व का बोध किया जा सकता है। जैसे हम हवा को नहीं देख सकते, फिर भी स्पर्श के द्वारा उसका बोध होता है। उसी प्रकार अनुभव एवं ज्ञान गुण से आत्मा की प्रतीति की जा सकती है।

एक अंधेरे कमरे में परदे पर सिनेमा के चित्र दिखाए जा रहे हैं। हम उन चित्रों को अच्छी तरह से दखे रहे हैं। किसी ने उस कमरे की खिड़कियाँ और दरवाजे खोल दिए और उसके कारण यदि परदे पर सूर्य का प्रकाश पड़ने लग जाए तो हमें पर्दे पर वे चित्र दिखना बंद हो जाएँगे। चित्र अब भी परदे पर है, परन्तु हम उन्हें नहीं देख सकते है? कभी नहीं। इसी प्रकार हमारे पूर्व जन्म की घटनाएं हमारी आत्मा के साथ होती है, परन्तु हम उसके सम्बन्ध के बारे में अस्तित्व होते हुए भी नहीं जान सकतें। हमारे वर्तमान के इन्द्रिय ज्ञान ने उन घटनाओं का ज्ञान रोक रखा है। अतः हम अपने इन्द्रिय ज्ञानरूपी दरवाजों और खिड़कियों को बन्द कर मानसिक एकाग्रता, आत्म–चिन्तन, ध्यान, कार्योत्सर्ग रूपी किरणों से जानने का प्रयत्न करें तों पूर्व जन्म की समस्त घटनाक्रमों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

कर्मबन्ध और निर्जरा क्यों व कैसे ?

सुख–दुःख से प्रभावित हो जीव अनुकूल के प्रति राग भाव और प्रतिकूल के प्रति द्वेष भाव रखने लगता है। आत्मा पर लगी शुभाशुभ भावों के रूप में राग–द्वेष रूपी चिकनाहट तथा मन, वचन और काया आदि की चंचलता के कारण इस लोक में व्याप्त आत्मा के चारों तरफ कर्म वर्गणाओं के सूक्ष्मतम पुद्गल आकर्षित हो चुम्बक की भाँति चिपक कर एकाकार हो जाते हैं। जिस प्रकार अति कठोर लोहपिण्ड में अग्नि प्रवेश कर जाती है, उसी प्रकार अति सूक्ष्म होने से कर्म पुद्गल आत्मा के साथ जन्म–जन्मातर तक चिपके रहते हैं। उनमें से कुछ प्रतिक्षण निर्जरित हो आत्मा से अलग होते हैं तो नए नए कर्म पुनः आत्मा के चिपकते रहते हैं। इस प्रकार कर्मबन्ध और निर्जरा की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है।

यदि संयोग–वियोग में जीव अनासक्त रहे, प्रतिक्रिया न करे तथा समभाव पूर्वक ज्ञाता द्रष्टा भाव रखे तो कर्मों के बन्धन यह चक्र रूक जाता है। जब राग–द्वेष पूर्ण रूप से समाप्त हो जाता है, तो आत्मा उसको आवृत्त करने वाले कर्मों से मुक्त हो जाती है। जैन दर्शन में आत्मा की उस अवस्था को वीतरागी अवस्था अथवा केवलज्ञान की प्राप्ति कहते हैं, जहाँ सारा अज्ञान दूर हो जाता है। केवल ज्ञान ही शेष रहता है। आत्मा पूर्ण रूप से निर्मल, शुद्ध, स्वच्छ एवं पवित्र बन जाती है। सम्पूर्ण आत्मानुभूति की अवस्था में वर्तमान, भूत एवं भविष्य की सूक्ष्म, प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष वस्तुएं और घटनाएं दर्पण की भांति प्रतिबिम्बित होने लगती हैं। वे ही वास्तव में सच्चे एवं सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिक होते हैं। वे ही सत्य के प्रेरणास्रोत और आत्म साक्षात्कार का मार्ग बतलाने वाले होते हैं। उनका उपदेश एवं मार्गदर्शन न केवल भौतिक उपलब्धियों तक ही सीमित होता है, अपितु वे जीवन के चरम लक्ष्य का मार्गदर्शन करते हैं। उनमें भक्त को भगवान, नर से नारायण तथा आत्मा को परमात्मा बनाने की चमत्कारिक शक्ति होती है। शारीरिक, मानसिक, भावात्मक और आत्मिक स्वास्थ्य, समाधि और शांति के लिए ऐसे महापुरूषों के निर्देशानुसार विवेकपूर्ण जीवनचर्या आवश्यक है। इसके विपरीत आचरण कर स्वस्थ रहने की कल्पना शारीरिक रोगों से भले ही आंशिक अल्पकालीन राहत दिला दें, अन्ततोगत्वा हानिकारक ही होती है जो भविष्य के लिए ज्यादा कष्टकारण होने से घाटे का सौदा साबित होती है।

आत्मा के साथ कर्म पुद्गलों का दूध में पानी की भाँति मिल जाना, एकाकार हो जाना बन्ध कहलाता हे और आत्मा से कर्मों के अलग हो जाने की प्रक्रिया को निर्जरा कहते हैं। लोक में चारों तरफ कर्म वर्गणा के पुद्गल फैले हुए हैं, पर वे आत्मा की शुभ या अशुभ प्रवृति के बिना उसके साथ घुलमिल नहीं सकते। जैसे तेल से भरे दीपक में रखी बाती भी तेल को नहीं खींच सकती, पर ज्योंही उसे दियासलाई से जलाया जाता है, त्योंहीवह बत्ती सिहर–सिरहकर धीरे–धीरे तेल खींचने लगती है। इसी प्रकार आत्मा भी अपनी प्रवृत्ति द्वारा कर्म योग्य पुद्गलों को खींच, एंकाकार कर देती है।

चेतना के विकास पर कर्मों का प्रभाव

जैसे दूध में मक्खन और घी होता है। तिल के कण-कण में तेल और चिकनाई होती है। ईंधन के प्रत्येक भाग में अग्नि का अस्तित्व होता हैं। ठीक उसी प्रकार आत्मा में बीज रूप में अनन्त शक्तियाँ होती है, परन्तु कर्मों के प्रभाव से उसका विकास, अभिव्यक्ति भिन्न-भिन्न होती है। ज्ञानावरणीय कर्मों के क्षयोपशम के अनुसार जीव को बुद्धि, ज्ञान और प्रज्ञा की प्राप्ति होती है। दर्शनावरणीय कर्मो के अनुसार हमें सोचने, समझने, चिन्तन, मननं और विश्वास करने की दृष्टि मिलती है। जानते और मानते हुए भी सनातन सत्य पर विश्वास नहीं होता। 'सच्चा सो मेरा' के स्थान पर जो मैं कर रहा हूँ, सोच रहा हूँ, वही सत्य है तथा उसी के अनुसार सही गलत की वास्तविकता समझ आचरण करने लगता है। गलत को सही मानकर विश्वास करने से ऐसे व्यक्तियों को अपने लक्ष्य की प्राप्ति में पुरूषार्थ करने के बावजूद हमेशा सफलता नहीं मिलती।

वेदनीय कर्मों के अनुसार जीवन में सुख-दुःख, संयोग-वियोग, दर्द, पीड़ा, स्वस्थता, रोग आदि मिलते हैं। मोहनीय कर्म के आवरण से राग-द्वेष, आसक्ति के भाव पैदा होते हैं। नाम कर्म के अनुसार जीव को शरीर का वर्ण, गन्ध ा, रूप, गठन, बल, विकास आदि प्राप्त होते हैं। गोत्र कर्म के अनुसार योनि, जाति, परिवार उच्च या नीच कुल आदि आसपास का वातावरण प्राप्त होता है। अन्तराय कर्म के उदय से विकास एवं सुखद अनुकूल परिस्थितियों की प्राप्ति में अवरोध आता है। जिसके परिणामस्वरूप योग्यता होते हुए और सम्यक् पुरूषार्थ करने के बावजूद इच्छित लक्ष्य की प्रप्ति में कुछ न कुछ बाधाएं उपस्थित हो जाती हैं। आयुष्य कर्म के अनुसार निश्चित अवधि के लिए जीव को किसी भी योनि के अनुरूप शारीरिक व्यवस्था मिलती है। व्यक्ति के आयुष्य का निर्धारण इसी कर्म के आध ाार पर होता है। इसलिए सभी का आयुष्य एक-सी नहीं होता। कोई गर्भकाल अथवा बाल्यावस्था में ही मर जाता है तो अन्य को दीर्घ आयुष्य मिलता हे। अर्थात् कर्मों का आत्मा पर जैसा-जैसा आवरण होता है, वैसी-वैसी जीव को योनि, इन्द्रिया, मन और चेतना के विकास की अवस्था प्राप्त होती है। आयुष्य समाप्ति अथवा पूर्ण होने पर मृत्यु से सम्बन्धित रोग, दुर्घटना अथवा अन्य परिस्थितियों का निर्माण नियति द्वारा होता है और व्यक्ति को बचाने के सारे प्रयास असफल हो जाते हैं। यदि आयुष्य प्रबल है तो व्यक्ति बड़ी से बड़ी दुर्घटना, रोग एवं मृत्यु के अन्य कारण एवं परिस्थितियाँ होने के बावजूद नहीं मरता।

कर्म सिद्धान्त पर श्रद्धा आवश्यक

अज्ञान सभी दुःखों का मूल है। जो आत्मा, कर्म और पुनर्जन्म पर विश्वास नहीं करते, उन्हें सर्वप्रथम इन तथ्यों पर बिना पूर्वाग्रह अनेकान्त दृष्टिकोण से सम्यक्

चिन्तन करना चाहिए। हमारे मानने अथवा न मानने से सनातन सत्य या असत्य नहीं हो जाता। करोड़ों व्यक्तियों के कहने से दो और दो पाँचे नहीं हो जाते। दो और दो तो चार ही होते हैं। पारस को पत्थर कहने से वह पत्थर नहीं हो जाता और पत्थर को पारस मानने से वह पारस नहीं हो जाता।

कहने का अभिप्राय यही है कि राग और द्वेष दोनों कर्म बन्धन का कारण होने से आत्मा को मलिन बनाते हैं। द्वेष की मलिनता का तो हमें पता चल जाता है, परन्तु राग की मलिनता का नहीं। वास्तव में राग और द्वेष संसारी आत्मा रूपी कारखाने के विषैले द्रव्य हैं, जो हमारी आत्मा को गन्दा करते हैं। आधुनिक चिकित्सकों के पास शरीर में उत्पन्न रोगों के परीक्षण हेतु तो विभिन्न प्रकार के यंत्र होते हैं, परन्तु आज तक ऐसा यंत्र नहीं बना पाए, जो आत्म विकारों को माप सके तथा आवश्यकता होने पर उन्हें दूर भी कर सके। रक्त को शुद्ध करने का तरीका तो उन्होंने ढूँढ लिया, परन्तु आत्मा को स्वच्छ, निर्मल, पवित्र, शुद्ध बनाने हेतु विशेष प्रयास नहीं किया। आधुनिक चिकित्सक बाहय कारणों से उत्पन्न शरीर में रोग के कीटाणुओं को नष्ट करने के लिए तो प्रयत्नशील रहते हैं, परन्तु मन में उत्पन्न आत्मा को कलुषित करने वाली क्रोध, मान, माया, लोभ, हिंसा, राग, द्वेष, असत्य, अनैतिकता, घ्रणा, प्रमाद, चिन्ता, भय, तनाव, असंयम आदि अशुभ प्रवृत्तियों के विकारों की गन्दगी से उत्पन्न रोग के कीटाणुओं को नष्ट करने के लिए उनका ध्यान नहीं जाता। ये ही घुन या कीट हैं, जो रोगोत्पति का कारण बन हमारे दिल, दिमाग और देह को दुर्बल बनाते हैं।

स्थायी स्वास्थ्य हेतु अन्तर्दृष्टि आवश्यक

आज का मानव बहिर्गामी बना हुआ है। उसने अपनी अन्तर्दृष्टि का विकास नहीं किया। प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर अन्तर्दष्टि के विकास की अनन्त क्षमता है। वह सूक्ष्म बात को जान और समझ सकता है। शरीर का जो भाग कार्य में नहीं लिया जाता है वह शक्तिहीन एवं निष्क्रिय हो जाता है। बाहय दृष्टि की भी उपयोगिता है। महत्त्व है, परन्तु उसको ही सब कुछ मान कर उसमें अटक जाना, भटक जाना बुद्धिमत्ता नहीं। अन्तरदृष्टि का विकास करना भी आवश्यक है। केवल स्थूल बाह्य दृष्टि से जीवन तो चल जाता है, परन्तु अच्छा जीवन नहीं चल सकता। अपनी क्षमताओं का पूर्ण उपयोग नहीं हो सकता। इच्छित लक्ष्य को पूर्णरूपेण प्राप्त नहीं किया जा सकता। प्रत्येक जीव शान्ति, सुख, स्वस्थता, स्वाधीनता और जीना चाहता है जिसकी सरलतापूर्वक प्राप्ति सम्भव नहीं हो सकती।

यदि हमें स्वावलम्बी बन स्थायी रूप से स्वस्थता प्राप्ति करनी है तो अपनी क्षमताओं का चिन्तन करना होगा, उन्हें पहचानना और सदुपयोग करना होगा। मैं चेतन्यमय हूँ, आनन्दमय हूँ, अनन्त शक्ति का स्रोत मुझमें है। रोग का कारण मैं स्वयं

हूँ। मेरा अज्ञान, अविवेक और मिथ्या आचरण है। स्वस्थ रहना मेरा मौलिक आधार है। निरन्तर ऐसा संकल्प करने से मनोबल, आत्मबल बढ़ेगा तथा हम स्वस्थ हो सकेंगे।

दु:ख देने से दु:ख मिलता है

संसार में दो तत्त्व मुख्य है। प्रथम जीव, चेतना अथवा आत्मा। दूसरा, अजीव, निर्जीव, जड़ या अचेतन। इन दो तत्वों से ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की संरचना होती है। वर्तमान भौतिक विज्ञान ने जितनी भी खोज की है, उसका आधार है — जड़ जगत। चेतना के स्तर पर अभी तक प्रयोगशालाओं अथवा कारखानों में जीवन के लिए अत्याधिक आवश्यक कोशिकाओं तक का निर्माण सम्भव नहीं हुआ है। परन्तु अज्ञान और अविवेकपूर्ण मिथ्या दृष्टिकोण के फलस्वरूप अन्य चेतनाशील प्राणियों के प्रति आज के स्वार्थी मानव का आचारण करूणामय नहीं है। जो प्राण हम दे नहीं सकते, उसको लेने का हमें क्या आधिकार? जो बना नहीं सकते उसको नष्ट करना कैसे न्यायसंगत कहा जा सकता है? रोग एक दु:ख है, पीड़ा है। वह हमारे शरीर में क्यों उत्पन्न होता है? प्रकृति का सनातन सिद्धान्त है —– दु:ख देने से दु:ख मिलता है। जैसा बोएँगे वैसा ही फल प्राप्त होगा। अत: शान्त, सुखी, रोगमुक्त, दीर्घ जीवन जीने के लिए अहिंसक आचरण आवश्यक है।

अहिंसा का आधार है —– आत्मा। जब तक जीव–अजीव का ज्ञान नहीं होगा, तब तक हिंसा से बचना कठिन होगा। जो हलन–चलन वाले जीव हमें दिखाई देते हैं, प्राय: हम उन्हीं को जीव मानते हैं। बहुत से ऐसे सूक्ष्म जीव होते हैं, जिन्हें हम अपने चर्म चक्षुओं से नहीं देख सकते और न सभी सूक्ष्म जीवों को उपलब्ध वैज्ञानिक उपकरणों द्वारा भी देखना सम्भव होता है। आज वैज्ञानिकों द्वारा भी वनस्पति में चेतना को स्वीकार किया जा चुका है। कैप्टन स्कोर्सबी ने पानी की एक बूँद में सूक्ष्म दर्शक यंत्र द्वारा 364500 चलते–फिरते जीवों को देखा, जिसका विवरण सिद्ध पदार्थ नामक ग्रन्थ (जो इलाहाबाद प्रेस से प्रकाशित हुआ है) में मिलता है। तथा पानी में जीव की सत्यता को स्पष्ट करता है। अग्नि की सजीवता तो स्वयं सिद्ध है। उसमें प्रकाश और उष्णता का गुण है। जो सचेतन में होते हैं। अग्नि वायु के बिना जीवित नहीं रह सकती। लकड़ी, ईंधन, पेट्रोल, केरोसिन आदि आहार लेकर बढ़ती है। आहार के अभाव में अग्नि घटती है। ये सभी उसकी सजीवता के लक्षण हैं। केवल ज्ञानी, सर्वज्ञ, वीतरागी, त्रिकाल द्रष्टा ही सूक्ष्म से सूक्ष्मतम जीवों को देख सकते हैं। उन्होंने बिना किसी यंत्र की जो जैन आगमों में विस्तार से चर्चित है। उन्होंने वायु और पृथ्वी में भी जीव की उपस्थिति का वर्णन किया, जिसका प्रभाव हम भूकम्प, आँधी, तूफान के समय अनुभव कर सकते हैं, जो विज्ञान के लिए शोध ा का विषय है। आज उनका अत्यधिक दोहन, दुरूपयोग ही पर्यावरण और पदूषण

का मूल कारण है। अतः अहिंसक व्यक्ति को ऐसे एक इन्द्रिय वाले जीवों से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों के साथ करूणा, दया का व्यवहार करना चाहिए।

जिस प्रकार मूर्च्छित व्यक्ति की बाहय चेतना सुप्त होती है, परन्तु अन्तरंग चेतना, अनुभूति, लुप्त नहीं होती। कोई मनुष्य जन्म से अन्धा, मूक, बधिर और हाथ–पैरो से विकलांग हो और यदि कोई व्यक्ति उसको कष्ट दें तो भी वह उस पीड़ा को अभिव्यक्त नहीं कर सकता और न दुःखी होकर चल सकता है अथवा अन्य चेष्टा ही कर सकता है। तब क्या ऐसा मान लिया जावे कि उसमें जीव नहीं हैं। जैसे वह व्यक्ति वाणी, चक्षु और गति के अभाव में पीड़ा का अनुभव करता है, वैसे ही पृथ्वी, जल, वायु और वनस्पति आदि एकेन्द्रिय जीवों में भी व्यक्त चेतना का अभाव होने से प्राणों का स्पन्दन नहीं होता है, किन्तु अनुभव चेतना विद्यमान होती है। अतः उन्हें भी कष्ट की अनुभूति होती है। एकेन्द्रिय जीवो में चेतना मूर्च्छित रहती है, परन्तु वे अन्तरंग चेतना से शून्य नहीं होते। वैदिक परम्परा में पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति में देवत्व का वास माना गया है। भवन निर्माण अथवा प्रवेश के समय भूमि पूजन, हवन और विवाह शादी के प्रसंगों पर अग्नि की साक्षी, सूर्य नमस्कार, हथेली में पानी लेकर संकल्प लेने की परम्परा तथा पीपल, नीम, तुलसी आदि के पूजन के पीछे सम्भवतया यही लक्ष्य रहा हुआ है। परन्तु पृथ्वी, पानी, वायु, अग्नि और वनस्पति आदि में चेतना का ज्ञान न होने से अहिंसक कहलाने वाले भी इनका दुरूपयोग, अपव्यय करते तनिक भी संकोच नहीं करते।

क्या अहिंसक जीवन जीना सम्भव है ?

आत्मा को अशुभ कर्मों से आवृत्त करने में सबसे ज्यादा कारण हिंसा, क्रूरता, निर्दयता का आचरण है। क्या वर्तमान परिस्थितियों में अहिंसा का पालन सम्भव है? जहाँ जीवन है, वहाँ हिंसा होना स्वाभाविक है। अल्पतम, अतिआवश्यक, अपरिहार्य, लाचारी से होने वाली हिंसा के अलावा अनावश्यक, बिना किसी प्रयोजन होने वाली हिंसा करने, प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से करवाने तथा अज्ञान एवं अविवेकमय हिंसक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देने अथवा उनकी अनुमोदना करने से अपने आपको कैसे बचाया जा सके, यही चिन्तन का प्रश्न है?

दुनिया में कोई भी जीव मरना नहीं चाहता। भले ही उसे न चाहते हुए भी मरना क्यों न पड़े। यह सनातन सिद्धान्त है, परन्तु आज का स्वार्थी मानव अपने स्वास्थ्य के लिए अन्य चेतनाशील प्राणियों के साथ अमानवीय क्रूरता, निर्दयता, हिंसा का व्यवहारं करते तनिक भी संकोच नहीं करता। 'जियो और जीने दो' पर आधारित जीवनचर्या ही मानवता का प्रतीक है। अपने स्वार्थ के लिए अन्य जीवों को कष्ट पहुँचाना पाशविकता का लक्षण हैं। हमें तो पिन अथवा सूई की चुभन भी सहन न हो, परन्तु अज्ञानवश धर्म के नाम पर स्वाद, मनोरंजन, व्यवसाय, शिक्षा, दवाओं के

निर्माण एवं परीक्षण अथवा उपचार आदि के लिए अन्य जीवों के साथ क्रूरता अथवा उनका वध करना या उन्हें परेशान और पीड़ित करना स्वयं के लिए दु:खों, कष्टों, रोगों को आमंत्रण देना है। उन मूक, बेजुबान, असहाय जीवों की बद्दुआएं, हृदय से निकली चीत्कारें, उनको पीडित करने में प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग करने वालों को कभी शान्त, सुखी एवं स्वस्थ नहीं रहने देगी। भले ही पूर्व पुण्य के प्रभाव से स्वार्थी मानव को उसका तत्काल दुष्फल न भी मिले। इसीलिए सभी धर्मों ने "अहिंसा को परम धर्म" माना तथा सभी प्रकार के दानों में "जीवों को अभय दान" और सेवा में "प्राणि मात्र की रक्षा" को सर्वश्रेष्ठ सेवा माना है।

क्या चिकित्सा हेतु क्रूरता उचित है?

आज अज्ञान एवं स्वार्थी मनोवृत्ति के कारण सम्यक् चिन्तन के अभाव में, चिकित्सा के क्षेत्र में हिंसा को खुलेआम प्रोत्साहन मिल रहा है। पाठशालाओं में जीव विज्ञान की शिक्षा के नाम पर, टी.वी., वीडियो, कम्प्यूटर विद्यार्थियों में दया, करूणा, संवदेना के स्थान पर क्रूरता, हिंसा, निर्दयता के संस्कार दिए जा रहे हैं। दवाओं के निर्माण और परीक्षण हेतु मूक, बेबस, असहाय जानवरों पर बर्बरतापूर्वक यातनाएँ देने एवं अत्याचार करते तनिक भी संकोच नहीं हो रहा है? क्या हिंसा द्वारा निर्मित और क्रूरता द्वारा परीक्षण की गई दवाओं द्वारा उपचार करवाने वालों को अशुभ कर्मों का बन्ध नहीं होगा? प्रकृति का दण्ड देने का विधान पूर्ण न्याय पर आधारित है। वहाँ देर भले ही हो सकती है, अंधेर नहीं हो सकती।

यदि आपके बच्चे को कोई मार डाले, उसको प्रताड़ित करे, बिना अपराध आपका मालिक आपको दण्ड दे तो क्या आप ऐसा कृत्य करने वालों पर प्रसन्न होंगे? क्या उनको आशीर्वाद अथवा शुभकामनाएँ देंगे? आपके मन में दु:ख अथवा कष्ट पहुँचाने वाले के प्रति घृणा, द्वेष, बदले या प्रतिकार की भावना तो उत्पन्न नहीं होगी? ठीक उसी प्रकार प्राणिमात्र प्रकृति पर आश्रित होते हैं तथा जिन जानवरों को शिक्षा के नाम पर विच्छेदित किया जाता है, दवाइयों के निर्माण हेतु मारा जाता है, दवाओं के परीक्षण हेतु जिन्हें निर्दयता व क्रूरता से प्रताड़ित किया जाता है तो उन बेजुबान, बेकसूर मूक प्राणियों का करूण क्रन्दन, हृदय से निकली चीत्कारे और बददुआएँ ऐसे स्वार्थी मानवों को क्षमा नहीं करेगी जो प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष रूप से उन पर क्रूरता करते हैं, करवाते हैं तथा ऐसी दवाइयों का व्यवसाय एवं वितरण कर उन पर होने वाले अत्याचारों की अनुमोदना में भागीदार बनते हैं–इसमें तनिक भी सन्देह नहीं होना चाहिए। जब पूज्य पुरूषों का आशीर्वाद हमें शान्ति पहुँचा सकता है तो दु:खी प्राणी की आहें अपना प्रभाव क्यों नहीं दिखाएँगी, चिन्तन का प्रश्न है?

अत: शान्ति, प्रसन्नता, सुख एवं स्वस्थ रहने की कामना रखने वालों को दु:ख से बचने के लिए प्राणियों को दु:खीं करने में सहयोग नहीं करना चाहिए।

मानव द्वारा अपने रोगों को दूर करने के लिए अनावश्यक हिंसा को प्रोत्साहन देना उसके स्वार्थीपन, अविवेक, अज्ञान तथा पाशविकता का प्रतीक है जिसका दुष्परिणाम उन्हें भविष्य में निश्चिम रूप से भुगतना पड़ेगा। जहाँ कोई विकल्प न हो और रोग सहनशक्ति के बाहर हो उसी अवस्था में लाचारीवश ही ऐसा उपचार लेकर प्रायश्चित लेना चाहिए। अतः हिंसा को प्रोत्साहन देने वाली चिकित्सा पद्धतियाँ पूर्ण रूप से प्रभावशाली कदापि नहीं हो सकतीं?

अहिंसक साधकों का उपचार के समय दायित्व

आश्चर्य तो इस बात का है कि अधिकांश अहिंसक साधक जो जीवन का मोह छोड़ साधना पथ के पथिक बन कठिन से कठिन परीषह सहन करने का संकल्प लेने वाले अज्ञान अथवा अविवेक के कारण साधारण से रोगों में विचलित हो जाते हैं। अपनी सहनशक्ति, धैर्य खो जीवन के मोह का परिचय देने लगते हैं। उपचार के नाम पर प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष हिंसा में सहयोगी बनते तनिक भी संकोच नहीं करते। मानव सेवा के नाम पर हिंसा पर आधारित चिकित्सालयों के निर्माण की प्रेरणा देते अथवा अनुमोदना करते संकोच नहीं करते? हम बूचड़खानों अथवा जीव हिंसा का तो विरोध करें परन्तु उनसे बने उत्पादकों का स्वयं उपयोग करें, दूसरों से करवाएँ तथा उपयोग में लेने वालों को प्रोत्साहन देकर अथवा प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष अनुमोदना का सहयोग देना कहाँ तक उचित है? जिस पर अहिंसा का पूर्णतया पालन करने वालों को तो विशेष चिन्तन करना चाहिए। अहिंसक विकल्पों को प्राथमिकता देने की मानसिकता बनानी चाहिए।

अहिंसक जीवन चर्या के लिए विवेक एवं सजगता आवश्यक

हमारा जीवन परस्पर सहयोग से चलता है। हमें सहज ही अन्य प्राणियों के साथ जीवन जीने का योग (प्रसंग) मिला है। हम उनका जितना सहयोग करें, उतना हमारा बड़प्पन है। उनकी क्षमताओं के अनुसार उपयोग कर उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करें, तब तक तो ठीक है, परन्तु उनका दुरूपयोग अथवा उपभोग करना कदापि उचित नहीं। गाय से दूध प्राप्त करना उसका उपयोग है। उसके रहने, चारे, पानी की अच्छी व्यवस्था करना, बीमार होने पर उपचार करवाना उसके साथ सहयोग है, परन्तु माँस के लिए अथवा अर्थोपार्जन के लिए उसकी निर्मम हत्या उसका उपभोग है, जो मानवता के लिए कलंक है।

भूखे को भोजन खिलाना मानवता का प्रतीक है परन्तु भूखा व्यक्ति भोजन में माँसाहार का आग्रह करे तो अहिंसा प्रेमी ऐसी सेवा कभी नहीं करेगा। ठीक उसी प्रकार मानव सेवा के नाम पर हिंसा पर आधारित दवाओं का वितरण, उपचार को

बढ़ावा देना, कर्जा चुकाने के लिए ऊँचे ब्याज पर कर्ज लेने के तुल्य होगा। सेवाकर्म निर्जरा का माध्यम है और हिंसाकर्म बन्धन का कारण परन्तु क्या कर्म बन्धन का कारण कर्म निर्जरा हो सकता है? अनेकान्त दृष्टि से पूर्वाग्रह छोड़ इस बात पर चिन्तन अपेक्षित है? अतः उपचार करते और करवाते समय प्रभावशाली अहिंसात्मक चिकित्सा पद्धतियों को ही प्राथमिकता देनी चाहिए।

जीव–अजीव का भेद समझ में आने पर प्रज्ञावन, विवेकशील व्यक्ति अनावश्यक हिंसा से यथासंभव बचने का प्रयास करेगा परन्तु जब तक जीवन है, सूक्ष्म हिंसा अनिवार्य है। अतः आजकल ऐसी मान्यता बलवती होती जा रही है कि बिना हिंसा जीवन चल ही नहीं सकता। इस शंका का समाधान करते हुए प्रभु महावीर ने कहा–

जयं चरे जयं चिट्ठे जय मासे जयं सए।
जयं भुजंतो भासंतो पावकम्मं न बंधई।।

अर्थात् यतानापूर्वक उठने, बैठने, चलने एवं सोने अथवा जीवन के लिए अति आवश्यक प्रवृत्तियाँ करने से पाप कर्मों का बन्ध नहीं होता अर्थात् हिंसा का अधिक दोष नहीं लगता। अतः हमारी सारी प्रवृत्तियाँ विवेकपूर्ण होनी चाहिए ताकि प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष, जाने–अनजाने किसी जीव को कष्ट पहुँचाने की मन में भी भावना न हो। हिंसक प्रवृत्तियों से यथा सम्भव बचने का प्रयास किया जाए।

हिंसा के मुख्यतया दो भेद होते हैं। प्रथम द्रव्य–हिंसा तथा दूसरी भाव–हिंसा। प्रथम का सम्बन्ध जाने–अनजाने प्रत्यक्ष हिंसा से होता है, जबकि दूसरी हिंसा में हम सीधे सहयोगी नहीं होते, मात्र हिंसा के भाव होते हैं। ऐसी हिंसा से हम सहज बच सकते हैं। जैन आगमों में ऐसी अकारण हिंसा का अनुमोदना का अनर्थदण्ड कहा हैं। मन में हिंसा का विचार आते समय, मन में भावों अथवा लेश्या की क्या स्थिति है, कर्म बन्धन हेतु बहुत महत्त्वपूर्ण है। जैन आगमों में इंस सन्दर्भ में तन्दुल मच्छ का दृटान्त आता है। जो समुद्र में भीमकाय मगरमच्छ की भौंहों पर बैठा चावल के दाने जितना छोटा मच्छ होता है। जब वह देखता है कि मगरमच्छ की श्वास के साथ सैकड़ों मछलियाँ उसके पेट में जा रही है और श्वास छोड़ने के साथ वापस आ रही है। तंदुलमच्छ विचार करता है कि यह कैसी आलसी मगरमच्छ है, जो मुंह में आए शिकार को यों ही गंवा रहा है। इसके स्थान पर यदि मैं होता तो एक भी मछली को जीवित बाहर नहीं आने देता।

उसकी ऐसी भावना मात्र उसे उधोगतिका पथिक बना देती है। हालांकि प्रत्यक्ष रूप से तन्दुलमच्छ हिंसा में तनिक भी भागीदार नहीं होता। इसी प्रकार आजकल हम बिना प्रयोजन, अकारण ऐसी प्रवत्तियों की प्रेरणा देते हैं अथवा प्रशंसा करते हैं जिनका सम्बन्ध प्रत्यक्ष–परोक्ष रूप में हिंसा से होता है। ऐसी अनावश्यक प्रंवृत्तियों को हमें त्यागना होगा, जो आत्मा को कर्म से आवृत्त कर विकारग्रस्त बनाती हैं।

अध्याय – 8

शरीर में ऊर्जा हो तो स्वस्थ रहिएगा

शारीरिक ऊर्जा के मूल स्रोत–पर्याप्तियां

संसार में दो तत्त्व ही मुख्य होते हैं। प्रथम जीव अथवा आत्मा और दूसरा अजीव, जड़ या अचेतन। इन दो तत्त्वों से ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की संरचना होती है। जिनमें आहार करने, शरीर रचना करने, इन्द्रियों का निर्माण करने तथा श्वांस लेने की क्षमता होती है, वे ही जीव कहलाते हैं। ये चारों मूल शक्तियाँ जीव के आवश्यक मापदण्ड होती हैं। अर्थात् जिनमें उपर्युक्त शक्तियों का अभाव होता है, वे निर्जीव कहलाते हैं। इसी कारण निर्जीव को दर्द, पीड़ा, वेदना आदि का अनुभव नहीं होता। पर्याप्ति संसारी आत्मा की चेतना की ऊर्जा का लक्षण है। माँ के गर्भ में बच्चे का विकास कैसे होता है? क्या यह एक सामान्य रासायनिक क्रिया मात्र है?

भाषा शक्ति अर्थात् वाणी और चिन्तन शक्ति सभी जीवों में नहीं होती, क्योंकि वे चेतना के विकास की अवस्थाएँ होती है। माँ के गर्भ में आते ही कर्मों की स्थिति के अनुसार जीव को विशेष प्रकार की ऊर्जा प्राप्त होती है, जिसके द्वारा जीव आहार को शरीर एवं इन्द्रियों के रूप में परिवर्तित कर सकता है। इस परिगमन करने की जीवनदायिनी चेतना की मूल ऊर्जा को जैन धर्म में पर्याप्ति कहते हैं। पर्याप्ति के अभाव में पंच महाभूत तत्व शरीर का निर्माण नहीं कर सकते।

मानव जीवन में आहार, शरीर और इन्द्रिय पर्याप्ति के साथ–साथ श्वासोश्वास, भाषा और मन पर्याप्तियाँ भी अन्य योनियों के जीवों की तुलना में विकसित अवस्था में उपलब्ध होती हैं। श्वासोच्छवास पर्याप्ति से ही जीव वायुमण्डल से श्वसन योग्य पुद्गलों को ग्रहण कर शरीर के लिए आवश्यक विभिन्न ऊर्जाओं में रूपान्तरण करता है। जिसके कारण सभी इन्द्रियां, अवयव और अंग–उपांग अपना अपना कार्य स्वतंत्र रूप से कर सकते हैं। भाषा पर्याप्ति के कारण ही मनुष्य का जीव भाषा योग्य सूक्ष्म पुद्गलों को ग्रहण कर बोलने की क्षमता पैदा करता है। जिन जीवों

के भाषा पर्याप्ति नहीं होती, वे जीव मुँह, होते हुए भी बोल नहीं सकते। इसी प्रकार मन पर्याप्ति के प्रभाव से मनुष्य का जीव मनोवर्गणा के पुद्‌गलों को ग्रहण कर द्रव्य मन की सहायता से चिन्तन–मनन कर सकता हैं। जिन जीवों में मन पर्याप्ति का अभाव होता है, वे जीव मनुष्य की भाँति चिन्तन, मनन, कल्पनाएँ, इच्छाएँ, स्मृतियाँ, अध्ययन आदि नहीं कर सकते। उपचार अथवा रोग का निदान करते समय जब तक चेतना के विकास एवं उसको प्रभावित करने वाले विभिन्न कर्म बन्धनों के कारणों की उपेक्षा होगी, निदान अपूर्ण और उपचार अस्थायी होगा।

प्राण क्या है ?

जीवन जीने की शक्ति को प्राण कहते हैं। जिसके संयोग से प्राणी जीवित रहता है तथा वियोग से मरण अवस्था को प्राप्त हो जाता है। प्राण जीव का बाह्य लक्षण हैं। जिससे जीवित प्राणियों की प्रतीति होती है।

प्राण और पर्याप्ति में भेद और संबंध

प्राण जीव की शक्ति होती है और पर्याप्ति जीव द्वारा ग्रहण किए हुए पुद्‌गलों की शक्ति होती है। प्राण कार्य है तो पर्याप्ति उसके लिए सहायक ऊर्जा। आत्मा की जितनी भी मानसिक, वाचिक और काय्रा सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ होती हैं, वे सब द्रव्य पुद्‌गलों की सहायता से ही होती है। वायुयान बिना पेट्रोल आकाश में उड़ नहीं सकता। उसी प्रकार सभी प्रवृत्तियों का कर्ता अदृश्य VKREK GKSRH है और जब तक उसका शरीर से सम्बन्ध रहता है, तभी तक सभी शारीरिक क्रियाएँ होती है। इन क्रियाओं का सम्पादन करने वाली शक्ति को प्राण अथवा जीवनी शक्ति कहते हैं। पर्याप्तियाँ शक्ति स्रोत हैं और प्राण शक्ति केन्द्र है। इनमें परस्पर कार्य कारण का भाव प्रतीत होता है। शक्ति स्रोत कारण है और शक्ति केन्द्र रूपी प्राण उनके कार्य हैं।

प्राण और पर्याप्तियों की उपलब्धता पर ही हमारा स्वास्थ्य मुख्य रूप से निर्भर रहता है। दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध होता हैं।

पर्याप्तियाँ (शक्ति स्रोत)	प्राण (शक्ति केन्द्र)
आहार पर्याप्ति	आयुष्य प्राण
शरीर पर्याप्ति	कायबल प्राण
इन्द्रिय पर्याप्ति	इन्द्रिय
प्राण (श्रोत, चक्षु, घ्राण, रसेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय)	
श्वासोच्छवास पर्याप्ति	श्वासोच्छवास प्राण
भाषा पर्याप्ति	वचन बल प्राण
मनः पर्याप्ति	मनोबल प्राण

ये शक्ति स्रोत और शक्ति केन्द्र न तो आत्मा की शुद्धावस्था में होते हैं

और न अचेतन में होते हैं। ये चेतन और अचेतन के संयोग से उत्पन्न होते हैं हम जितने भी प्राणी हैं, वे सब चेतन (आत्मा) और अचेतन (जड़ शरीर) की संयोग अवस्था में हैं। वैदिक दर्शन के अनुसार प्राण चेतना का वाहन है। चेतना की अभिव्यक्ति इस ब्रह्माण्ड में असंख्य जीवन रूपों के रूप में अभिव्यक्त होती है। प्राण के बिना यह अभिव्यक्ति असम्भव है। आधुनिक विज्ञान भी प्राण को विशेष प्रकार की ऊर्जा के रूप में स्वीकारने लगा है। प्राण जीवन का सक्रिय, गतिशील एवं क्रियाशील पक्ष है।

प्राण ऊर्जा का परिवार

जीवित शरीर में एक ही प्रकार की प्राण ऊर्जा का ब्रह्माण्ड से प्रवाह होता है। यह प्राण ऊर्जा स्थूल शरीर से जुड़कर अलग–अलग कार्य करती है। कार्यभेद के आधार पर प्राणों को दस भागों में विभाजित किया गया है। कानों के द्वारा शब्दों को ग्रहण करने एवं सुनने हेतू आवश्यक चैतन्य ऊर्जा को श्रोतेन्द्रिय प्राण कहते हैं। आँखों के द्वारा देखने की चैतन्य ऊर्जा को चक्षु इन्द्रिय प्राण, जीभ के द्वारा स्वाद पहचानने की प्राण ऊर्जा को रसनेन्द्रिय प्राण, पदार्थ में रहे हुए कोमल, कठोर, गरम, ठण्डा, हलका, भारी आदि स्पर्शों का ज्ञान कराने वाली चेतना की ऊर्जा को स्पर्श इन्द्रिय प्राण कहते हैं। मन की सहायता से चिन्तन, मनन की प्राण ऊर्जा को मनोबल प्राण, शरीर के द्वारा उठने, बैठने, हलन चलन करने की शक्ति को कार्यबल प्राण, श्वासोच्छवास वर्गणा के पुद्गलों की सहायता से श्वास लेने एवं निकालने की चैतन्य ऊर्जा को श्वासोच्छवास बल प्राण कहते हैं। निश्चित समय तक निश्चिम भव में जिवित रहने की चेतना की शक्ति को आयुष्य बल प्राण कहते हैं। आयुष्य बल प्राण सभी प्राणों में मुख्य होता है। श्वास की तुलना गाड़ी में पेट्रोल के समान है तो आयुष्य का महत्त्व वाहन चालक के समान होता है। प्रत्येक प्राण में अपने अपने विषयों को ग्रहण करने एवं अभिव्यक्त करने की शक्ति होती है। मन शरीर के सभी प्राणों को अभिव्यक्त करने की क्षमता रखता है। ये सभी प्राण ऊर्जाएँ शरीर के विभिन्न अंगों, माँसपेशियों, स्नायुओं आदि तंत्रों को कार्य करने की क्षमता प्रदान करती है जिससे शरीर में आवश्यक ताप नियंत्रण, रक्त परिभ्रमण एवं अन्य क्रियाएं संचालित हो तथा मस्तिष्क से सम्बन्ध बनाएँ रखने हेतु उनकी सहायता करती है। इसके अभाव में स्थूल शरीर और मस्तिष्क अपना कार्य नहीं कर सकता। आधुनिक विज्ञान प्रायः इन ऊर्जाओं तथा इनके आपसी सम्बन्धों के अध्ययन तक ही सीमित है।

आयुष्य प्राण की प्रधानता

जिस प्रकार प्रधान मंत्री के नेतृत्व में मंत्रिमंडल के अन्य सदस्यों का अलग–अलग दायित्व होता है। प्रधान मंत्री के त्यागपत्र देने अथवा पद से मुक्त होने के पश्चात् जैसे अन्य मंत्रियों का मंत्री पद स्वतः ही समाप्त हो जाता है। ठीक उसी

प्राकर आयुष्य के समाप्त होते ही सभी प्राणों का अस्तित्व स्वतः ही समाप्त हो जाता है। प्रत्येक मनुष्य की आयुष्य का निर्धारण उसके पूर्व भव में ही आयुष्य कर्म का बन्ध होते ही निश्चित हो जाता है। आयुष्य का मापदण्ड श्वासों से होता है। जो प्रत्येक मनुष्य में अलग–अलग होता है। श्वासों की गति को नियंत्रित कर प्रायः आयुष्य की वर्तमान में प्रचलित काल अवधि को नियतिनुसार घटाया अथवा बढाया जा सकता है। अन्य कर्मों की स्थिति बदल सकती है, परन्तु आयुष्य कर्म को बदलना साधारणतया असम्भव होता है। वर्तमान शरीर विज्ञान के अनुसार तो मस्तिष्क, ह्रदय और फेंफड़ों का कार्य संचालन बन्द हो जाना मृत्यु होता है परन्तु इस सिद्धान्त के विपरीत ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जो समधि की अवस्था में बिना श्वास और ह्रदय की गति भी मानव कई दिनों तक जीवित रह सकता है। यह सम्भव है। जब तक आयुष्य प्राण क्रियाशील रहता है व्यक्ति की मृत्यु नहीं हो सकती। उसके समाप्त हो जाने के पश्चात् समस्त क्रियाएँ सम्पूर्ण रूप से बन्द हो जाती है, जिसे मृत्यु कहा जाता है।

आयुष्य पूर्व निर्धारित होती है।

क्योंकि आगामी जन्म की आयु वर्तमान जन्म में ही निश्चित हो जाती है, अतः आयुष्य बन्ध के समय परिणाम मन्द हों, तो आयु का बन्ध शिथिल होता है। शिथिल बन्ध वाली आयु दुर्घटना अथवा मरणांतिक योग मिलने पर अपनी नियत काल मर्यादा समाप्त होने के पहले ही अन्तर्मुहूर्त मात्र में भोग ली जाती है। आयु के इस प्रकार शीघ्र भोग को अकाल अथवा अस्वाभाविक मृत्यु कहते हैं। इसके विपरीत आयुष्य बन्ध के समय भाव अथवा परिणाम तीव्र हों, तो आयु का बन्ध भी प्रगाढ़ होता है। जिसके परिणामस्वरूप मृत्यु का निमित्त मिलने के बावजूद बन्धी हुआ आयुष्य घटता नहीं।

यदि दो समान वस्त्रों को पानी में गीला कर, एक को फैलाकर और दूसरे को समेट कर सुखाया जाए तो पहला कपड़ा जल्दी सूख जाएगा और दूसरा बहूत देर से। पानी का परिमाण और कपड़े की शोषण क्रिया समान होने पर भी कपड़े के संकोच और फैलाव के क़ारण कपड़े के सूखने में कम और ज्यादा समय लगता है। जैसे घास के बारीक चूरे के सघन ढेर में एक तरफ से छोटी सी चिनगारी छोड़ दी जाए तो वह चिनगारी धीरे–धीरे क्रमशः उस सारे चूरे को जलाने में काफी समय लगा सकती है, परन्तु वही चिनगारी घास के शिथिल ढेर पर छोंड़ दी जाए तो कुछ ही क्षणों में वह समूची घास जला देती है। उसी प्रकार अकाल मृत्यु के समय शेष आयु शीघ्र भोग ली जाती है, परन्तु आयुष्य को पूरा भोगे बिना मृत्यु नहीं हो सकती।

हमारा शरीर श्वासोच्छ्वास क्रिया में सहयोगी होता है। किसी दुर्घटना के समय व्यक्ति तड़पता है, छटपटाता है। उस समय यदि ध्यान से देखें तो शरीर के

रोम–राम श्वासोच्छवास की प्रक्रिया स्पष्ट देखी जा सकती है। अकाल मृत्यु के समय अपने पूर्व में निर्धारित श्वासों का भोग त्वचा द्वारा भोग कर ही पूर्ण करता है। कभी–कभी हम देखते हैं कि जब किसी छिपकली की पूँछ शरीर से अलग हो जाती है तो कुछ समय तक उसमें स्पन्दन होता रहता है।

प्राणों की विविधता के कारण ही प्रत्येक व्यक्ति में देखने, सुनने, समझने, बोलने, चिन्तन और मनन करने, अभिव्यक्ति आदि की क्षमता अलग–अलग होती है। आधुनिक विज्ञान के पास चेतना का नियंत्रण न होने से उपचार द्वारा कान, आँख आदि इन्द्रियों के द्रव्य उपकरणों में उत्पन्न खराबी को ही दूर किया जा सकता, परन्तु उन इन्द्रियों में प्राण ऊर्जा का अभाव होता है, तो डाक्टर कुछ नहीं कर सकता। इसी कारण नेत्रहीनों को नेत्र प्रत्यारोपण द्वारा रोशनी नहीं दिलाई जा सकती और न सभी मूक एवं बधिर उपकरण लगाने के बावजूद बोल अथवा सुन सकते हैं।

भौतिक ऊर्जा और प्राण ऊर्जा में अन्तर

मानव शरीर में उपलब्ध ऊर्जाओं को मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम चैतन्य या प्राण ऊर्जा एवं दूसरी भौतिक या जड़ ऊर्जा जिस ऊर्जा के निर्माण, वितरण, संचालन और नियंत्रण हेतु चेतना की उपस्थिति आवश्यक होती है, उस ऊर्जा को प्राण ऊर्जा और बाकी सभी ऊर्जाओं को जड़ अथवा भौतिक ऊर्जा कहते हैं। शरीर में जब तक आत्मा अथवा चेतना रहती है, तब तक प्राण ऊर्जा क्रियाशील होती है, परन्तु उसकी अनुपस्थिति अर्थात् मृत्यु के पश्चात् प्राण ऊर्जा के अभाव में अचेतन शरीर का कोई महत्त्व नहीं होता उल्टे उसकी उपस्थिति वातावरण को प्रदूषित करने लगती है। अत: स्पष्ट है कि जो साधन प्राण ऊर्जा का अनावश्यक दुरूपयोग अथाव अपव्यय होगा, हम रोगों को आमंत्रित करेंगे। प्राण अमूल्य है, अतः हमें स्वयं के प्राणों की रक्षा के साथ अन्य प्राणियों की हत्या में सहयोगी नहीं बनना चाहिए।

प्राण ऊर्जा का सदुपयोग

आत्मिक आनन्द और सच्ची शान्ति रोग मुक्ति तो प्राण ऊर्जा के सदुपयोग से ही प्राप्त होती है। यही प्रत्येक मानव के जीवन का सही लक्ष्य होता है। प्रतिक्षण हमारे प्राणों का क्षय और निर्माण हो रहा है। प्राण ओर पर्याप्तियों का परस्पर सम्बन्ध न जानने से कोई भी व्यक्ति न तो प्राणों का दुरूपयोग अथवा अपव्यय ही रोक सकता है और न अपने आपको निरोग ही रख सकता है। मन, वचन, काया एवं पाँचों इन्द्रियों का उपयोग जितना संयमित, आवश्यकतानुसार कम से कम करेंगे, उतना उनकी प्राण ऊर्जा का क्षय कम होगा। तेज रोशनी में देखना, टी.वी., सिनेमा आदि देखना, कोलाहल के बीच रहना, अकारण बोलना एवं हलन चलन तथा गलत

चिन्तन मनन करना आदि प्राण ऊर्जा का दुरूपयोग है। ध्यान और कयोत्सर्ग प्राण ऊर्जा का अपव्यय अथवा दुरूपयोग रोकने के सशक्त उपाय होने से प्रभावशाली उपचार भी है। प्रवृत्ति मात्र से प्राण खर्च होते हैं, अतः यथासम्भव शुभ में ही प्रवृत्ति होनी चाहिए। अतः प्रवृत्ति से निवृत्ति अर्थात् योग से अयोग अवस्था की प्राप्ति ही स्वास्थ्य का राजमार्ग है। जितना ज्यादा कर्मों का बन्ध होगा उतना स्वास्थ्य खराब होगा

प्राण ऊर्जा के असन्तुलन का प्रभाव

प्राण ऊर्जा के असन्तुलन से ही आवेग आते हैं। क्रोध, भय, चिन्ता, दुःख, निराशा, अधीरता, तनाव, क्रूरता, मायावृत्ति तृष्णा आदि भावों का उद्‌भव उस ही का प्रमाण होता है। ऐसे भावों से हमारी अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ प्रभावित होती है, जो शारीरिक रोगों का मुख्य कारण होती हैं। क्रोध में व्यक्ति अपना भान भूल जाता है। अधिक भय से कभी–कभी अचेतनता आ सकती है। ज्यादा चिन्ता से भूख मर जाती है। आवेग का हृदय और तनाव का मस्तिष्क पर सीधा प्रभाव पड़ता है। शरीर के अवयवों की रासायनिक प्रक्रियाएँ बदल जाती है। ऐसी परिस्थिति में यदि असन्तुलित प्राण ऊर्जा को सामायिक (समभाव) एवं स्वाध्याय (सम्यक् चिन्तन) द्वारा सन्तुलित कर दिया जावे तो उपचार अधिक प्रभावशाली हो जाता है।

भौतिक विज्ञान चैतन्य अथवा प्राण ऊर्जा का निर्माण नहीं कर सकता। मात्र प्राण ऊर्जा के वितरण, संचालन, नियंत्रण और निर्माण में सहयोग ही दिला सकता है। अतः भौतिक सिद्धान्तों पर आधारित कोई भी उपचार शरीर में जड़ तत्वों की खराबी को ठीक करने तक ही सीमित होता है। इसी कारण शरीर के लिए अति आवश्यक रक्त, माँस, मज्जा, अस्थि, वीर्य जैसे अवयवों का निर्माण आज की विकसित भौतिक प्रयोगशालाओं में भी सम्भव न हो सका, जो मनुष्य का शरीर स्वयं बनाता है, फिर भौतिक वैज्ञानिकों को व्यर्थ घमण्ड किस बात का? हृदय, फेंफड़े, गुर्दे, लीवर, तिल्ली, मस्तिष्क, जैसे चेतना द्वारा स्वचालित, स्वनियंत्रित अंगों तथा कान, नाक, आँख, मुँह जैसी इन्द्रियों का निर्माण क्यों नहीं सम्भव हो सका? स्वास्थ्य विज्ञान का सम्बन्ध मात्र जड़ शरीर से ही नहीं है, उसके साथ चेतना भी है। जो स्वास्थ्य विज्ञान चेतना की उपेक्षा कर जड़ तक ही अपने आपको सीमित रखे, उसको पूर्ण मानना, उसके सिद्धान्तों को अत्यधिक महत्त्व देना हमारे अज्ञान और अविवेक का प्रतीक है तथा मालिक से ज्यादा नौकर को महत्त्व देने के समान अबुद्धिमत्तापूर्ण है।

शरीर के जिस–जिस भाग में चेतना का प्रवाह होता है, वे ही अंग, उपांग, अवयव, इन्द्रियाँ, मन, मस्तिष्क आदि क्रियाशील रहते हैं। जहाँ–जहाँ चेतना मन्द हो जाती है, उसी अनुपात में असक्रिय अथवा निष्क्रिय हो जाते हैं। स्वास्थ्य के लिए

दो बातें प्रमुख हैं।

1. द्रव्य (जड़)   2. भाव (चेतना)

द्रव्य का सम्बन्ध शरीर के जड़ तत्त्वों से होता है। जैसे आँख एवं उसकी बनावट तथा उसके विभिन्न विभागों का व्यवस्थित होना। बिना द्रव्य (जड़) आंखे भौतिक जगत् के दृश्यों को देखा नहीं जा सकता? ठीक उसी प्रकार आँखों में चैतन्य ऊर्जा अर्थात् चेतना के अभाव में भी नहीं देखा जा सकता। इसी कारण नेत्रहीन भौतिक आंखें उपलब्ध होने के बावजूद नहीं देख सकते। आँख से देखने के लिए द्रव्य उपकरण का ठीक, व्यवस्थित होना जितना आवश्यक होता है, उतना ही चक्षु इन्द्रिय प्राण का होना अनिवार्य होता है। आज के स्वास्थ्य विज्ञान ने द्रव्य आँखों के विकारों सम्बन्धी रोग हो तो, उनको ठीक करने में तो सफलता प्राप्त की है, परन्तु यदि आँखों में देखने की शक्ति ही न हो तो, अच्छे से अच्छा नेत्र चिकित्सक उस नेत्रहीन को दृष्टि नहीं दिला सकता। इसी प्रकार जिन जीवों की द्रव्य इन्द्रियाँ (जड़ उपकरण) नहीं होती वे जीव उस इन्द्रिय का भाव प्राण (चेतना) होते हुए भी उपयोग नहीं कर पाते। जैसे चार इन्द्रिय वाले जीवों के कान नहीं होने से वे सुन नहीं सकते। तीन इन्द्रिय वाले जीवों के आँख और कान की द्रव्येन्द्रियाँ न होने से ऐसे जीव न तो देख सकते हैं और न सुन ही सकते हैं। साथ ही जिनके भाव इन्द्रियाँ नहीं होती उनके द्रव्य इन्द्रियों के उपकरण लगाने से भी इन्द्रियाँ क्रियाशील नहीं हो सकतीं?

शरीर में चैतन्य ऊर्जा की उपलब्धता कर्मों की स्थिति के अनुसार होती है। जिस ऊर्जा का दुरूपयोग किया जाता है, भविष्य में उसका अभाव रहना निश्चित है। इसी कारण प्रत्येक व्यक्ति के शारीरिक अंगों और इन्द्रियों की क्षमताएं अलग अलग होती है। जिनके आँखें कमजोर होती हैं, उन्होंने पूर्व जन्म अथवा भूतकाल में आँखों का दुरूपयोग किया हुआ होता है। अतः आँखों का अधिकाअधिक सदुपयोग करने से आँखों सम्बन्धी कर्मों का क्षय हो जाने से, आँखों में चैतन्य ऊर्जा का प्रवाह बढ़ने लगता है। एवं परघटित होता है। अतः उपचार करते समय इन्द्रियों ,मन, वाणी और आत्मा में विकार बढ़ाने वाली, कर्म बन्धन में सहायक प्रवृत्तियों से अपने आपको यथासम्भव बचाना सर्वाधिक आवश्यक होता है।

प्राण ऊर्जा का सन्तुलित रूपान्तरण जीवन संचालन हेतु आवश्यक

हमारे शरीर का संचालन पूर्णतया आपसी सहयोग, तालमेल और समन्वय से होता है। शरीर के सभी अंगों और मस्तिष्क का कार्य अलग अलग होता है। प्रत्येक कार्य के लिए ऊर्जा जरूरी है। अतः उसके लिए अलग–अलग प्रकार की विशेष ऊर्जाओं की आवश्यकता होती है, जिनका रूपान्तरण प्राण ऊर्जा, प्रकाश, अग्नि एवं अन्य भौतिक ऊर्जाओं में किया जा सकता है जिससे प्रकाश, गर्मी, ठण्डक, वाहनों

को चलाया जा सकता है उसी प्रकार प्राण ऊर्जा का भी शरीर की विभिन्न प्रक्रियाओं एवं अँगों की आवश्यकतानुसार रूपान्तरण हो सकता है। यदि किसी कारणवश शरीर के किसी भाग में उसकी क्रिया हेतु आवश्यक ऊर्जा नहीं मिलती है, तब सम्बन्धित भाग/अंग/उपांग/अवयव रोगग्रस्त होने लगता है। परिणामस्वरूप उससे सम्बन्धित सारी गतिविधियाँ प्रभावित होने लगती हैं। लम्बे समय तक ऐसी स्थिति बने रहने से रोग संक्रामक और असाध्य भी हो सकता है।

जिस प्रकार बिजली के उपकरणों में जब क्षमता से अधिक विद्युत भार (वोल्टेज) पर बिजली प्रवाहित होती हैं तो उस उपकरण के खराब होने की सम्भावना रहती है और यदि कम वोल्टेज पर बिजली प्रवाहित हो तो उपकरण पूर्ण क्षमता से कार्य नहीं करते। ठीक उसी प्रकार शरीर के किसी भाग में प्राण ऊर्जा का रूपान्तरण आवश्यकता से कम अथवा अधिक हो तो सम्बन्धित अंग/उपाग/ अवयव रोगग्रस्त हो जाते हैं। जब शरीर के किसी भाग में असन्तुलन होता है तो उसका प्रभाव सारे शरीर में प्रत्यक्ष–परोक्ष रूप से न्यूनाधिक पड़ता है। लम्बे समय तक प्राण ऊर्जा का असन्तुलन बने रहने से शारीरिक स्तर पर माँसपेशियाँ, रक्त परिभ्रमण, श्वसन, पाचन, हृदय की धड़कन, नाड़ी की गति, विजातीय तत्त्वों के विसर्जन आदि की प्रक्रिया प्रभावित होने लगती है। परिणामस्वरूप मानसिक स्तर पर भूख, प्यास, निद्रा, थकान, अरूचि, बेचैनी, तनाव, पीड़ा, दर्द, चिड़चिड़ापन, मनोबल में कमी जैसी स्थितियाँ प्रकट होने लगती है। आत्मिक स्तर पर स्मरण शक्ति का विस्मृत होना, सम्यक् प्रवृत्तियों के प्रति अरूचि अथवा उपेक्षा भाव, इन्द्रियों और मन पर संयम न रख पाना, स्वयं के लिए आवश्यक प्राथमिकताओं का ज्ञान या विवेक न रहना तथा उसके अनुरूप आचरण न कर पाने जैसी स्थिति बनने लगती है। स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग आदि साधना में मन नहीं लगता। दूसरी तरफ ऊर्जा के असंतुलन के कारण रक्त, मल, मूत्र आदि अवयवों के रासायनिक तत्वों में परिवर्तन होने लगता है। शरीर का बाह्य सन्तुलन भी प्रभावित होने से चलने–फिरने, उठने–बैठने में तकलीफ तथा अन्य लक्षण प्रकट होने लगते हैं। तात्पर्य यह है कि शरीर के विभिन्न अंगों में प्रवाहित प्राण ऊर्जा का आवश्यकतानुसार सन्तुलन अच्छे स्वास्थ्य की मुख्य आवश्यकता है। प्राण ऊर्जा के सन्तुलन से न केवल शरीर अपितु मन और भावात्मक स्तर पर भी उपचार होता है। उपचार करते समय अच्छा चिकित्सक मात्र रोगी को जाग्रत करने का प्रयास करता है। सभी रोग और रोगी एक जैसे नहीं होते। सभी ठीक भी नहीं होते। जिसके अन्दर की चेतना जाग्रत होगी, उस पर प्रभाव पड़ेगा। उपचार में रोगी को साथ जोड़ना होगा। वह बेहोश है। असजग, उदासीन, परावलम्बी है। अज्ञानी है, ना समझ है। रोग स्वयं के अज्ञान से शरीर में पैदा करता है और उपचार बाह्य साधनों में ढूँढता है। समभाव में आना, राग–द्वेष से मुक्त हो जाना, स्व में स्थित होना, नर से नारायण और आत्मा को परमात्मा बनाना। यही स्थायी प्रभावशाली स्वस्थ रहने का राजमार्ग है।

अध्याय — 9

स्वास्थ्य हेतु सम्यक् चिन्तन आवश्यक

स्वस्थ रहने के लिए यह सोचना जरूरी है कि चित्त कितना निरवद्य है, निर्मल है, पवित्र है। चेतना में पाप का प्रवाह तो नहीं आ रहा है। यदि ऐसा है तो स्वास्थ्य अच्छा रहता है, परन्तु यदि व्यक्ति बुरी कल्पना, बुरे विचार, बुरी भावना करता रहे और यह सोचता रहे कि मैं स्वस्थ रहूँगा तो इससे बड़ी कोई आत्म भ्रान्ति नहीं हो सकती।

सामान्य व्यक्ति के प्रति सैकिण्ड में एक विचार का आवागमन हो सकता है। प्रत्येक विचार की क्रियान्विति असम्भव है। ये विचार मुख्यतया दो प्रकार के होते हैं—
1. रागद्वेष युक्त भावात्मक विचार, जिसका प्रभाव शरीर के हृदय पर अधिक पड़ता है।
2. अन्य कार्यों के सांसारिक विचार, जिनका व्यक्ति के मस्तिष्क पर विशेष प्रभाव पड़ता है।

स्वास्थ्य हेतु सम्यक् चिन्तन आवश्यक

मन में जो कल्पना आकर चली जाती है, वह मन और मस्तिष्क को विशेष प्रभावित नहीं करती, परन्तु जो कल्पना बार–बार उठती है, वह विचार बन जाती है। विचार दृढ़ होने पर संकल्प बनता है और संकल्प के आचरण में आने पर कर्म बन जाता हैं यह कर्म जब फलित होता है तो भाग्य कहलाता है। अतः हम जो परिणाम भोगते हैं उसका मुख्य कारण हमारे मन की सोच ही होती है। मन में बनने वाले संकल्पों की शक्ति के कारण ही सारी परिस्थितियाँ बनती हैं। हमारा मन जैसा सोचता है, जैसा चिन्तन, मनन करता है वैसे ही हम बन जाते हैं। मन के सहयोग के बिना न तो बुद्धि ही ठीक कार्य करती है ओर न इन्द्रियाँ अपने विषयों से सम्बन्धित कार्य ही कर पाती हैं। मन कहीं और हो तो कान, पास में बैठे व्यक्ति की बात भी नहीं सुन पाते, आँखें खुली होने पर भी कुछ नहीं देख पातीं। ऐस शक्तिशाली एवं चंचल मन का कार्य तो सदैव इच्छा करना है। वह इच्छा शुभ है या अशुभ,

हितकर है या अहितकर, इसका निर्णय मन नहीं कर पाता। मन रूपी घोड़े की लगाम बुद्धि और विवेक के पास होती है। उत्तम एवं शुभ विचारों से मन शक्तिशाली बनता है।

वृत्ति तो आत्मा के शुभाशुभ भाव को कहते हैं। वृत्ति जो अभिव्यक्त होती है, उसे प्रवृत्ति कहते हैं। यह आवश्यक नहीं कि वृत्ति और प्रवृत्ति एक जेसी हो। कभी–कभी बाह्य प्रवृतियाँ तो साफ–सुथरी दिखाई देती है, परन्तु अन्दर ही अन्दर घुटन, माया, कपट, छल होने से मानसिक विकार उत्पन्न होने लगते हैं। हिंसा, झूठ, घृणा, तिरस्कार, भय, राग, द्वेष, लोभ आदि जो गलत प्रवृत्तियाँ होती है, जिनका प्रायः जनसाधारण को बोध होता है। बहुत से व्यक्ति अपने को सदाचारी, ईमानदार और भला दिखलाने के लिए झूठ और कपट का सहारा लेते हैं।, जिनके मूल में भी लोभी और भय की वृत्तियाँ ही होती है। ऐसी वृत्तियों और कृत्तिंयों में कितना खर्च, कितनी शक्ति और पर का आलम्बन चाहिए, जो स्पष्ट पराधीनता है, दुःख है और दुःख का कारण होती है।

अध्याय — 10

स्वास्थ के ऊपर मानसिक विकारों का दुष्प्रभाव

मानव के अंग, उपांग की आकृति में उसके स्वभाव की ही अभिव्यक्ति होती है तथा स्वभाव की विकृति ही शारीरिक विकारों अथवा रोग के रूप में प्रकट होती है। मानसिक विकार दो प्रकार से शारीरिक रोगों में सहायक बनते हैं। प्रथम तो उनका सीधा प्रभाव होता है। दूसरा उन अशुभ भावों से कुपस्थ, अनियमितता, दुराचार, गलत असात्विक खान पान आदि असंयम मय स्वछन्द प्रवृतियां का जीवन में बाहुलय होने लगता है।

आध्यात्म योगियों ने स्पष्ट घोषणा की ——"प्रज्ञापराधो मूलं रोगाणाम्" अर्थात् रोगों का मूल कारण प्रज्ञापराध है, यानी कुमति होता है। मति (बुद्धि) का सम्बन्ध मन से होता है। जैसा मन होता है, वैसी ही बुद्धि होती है। अतः मस्तिष्क की शुद्धि के लिए मन की शुद्धि आवश्यक है। मन के विकार बुद्धि के विकार एवं तन के विकार के रूप में अभिव्यक्त होते हैं।

ईर्ष्या, क्रोध, भय, चिन्ता, तनाव, द्वेष आदि से पीड़ित मनुष्यों द्वारा खाया हुआ भोजन का पाचन ठीक से नहीं होता। ऐसा कोई भी मानसिक विकार, जिसे हम दूसरों से छिपाना चाहते हैं अर्थात् माया, कपट, अनैतिकता आदि विकार पेट के रोग उत्पन्न करते हैं। कलुषित विचारों को छिपाकर रखने से, जिसके प्रकट होने से व्यक्ति के आत्म सम्मान को आघात पहुँचने की सम्भावना रहती है, शरीर के अंगों को रोगग्रस्त और कमजोर बनाने में प्रभावी भूमिका निभाते हैं। ज्यादा क्रोध और चिड़चिड़ापन लीवर और गाल ब्लेडर को, भय गुर्दे एवं मूत्राशय को, तनाव, चिन्ता, तिल्ली, आमाशय, पेन्क्रियाज आदि को, अधीरता आवेग हृदय और छोटी आंत को तथा दुःख फेफड़े और बड़ी आँत की कार्य क्षमता को घटाते हैं। लोभीकृपण व्यक्तियों की वृति संकुचित होती है। उन्हें संचय ही संचय करना पसन्द होता है। किसी को कुछ देने की इच्छा नहीं होती। उनकी इस कृपणः आँतें मल—विसर्जन करने में, त्वचा पसीना बाहर निकालने में, फेफड़े पूरा श्वास छोड़ने में कृपणता करते हैं। अतः

ऐसे व्यक्तियों को इन अंगों से सम्बन्धित रोग होने की अधिक सम्भावना रहती है।

मानसिक तनाव से रोग क्यों?

तनाव एक प्रकार से जीवन की आवश्यक प्रक्रिया है। तनाव एक दबाव की अवस्था है। तनाव परिणाम है, फल है, कारण नहीं। किसी भी क्षण व्यक्ति तनाव की स्थिति में आ सकता है। तनाव आता है और चला जाता है, तो ज्यादा खतरनाक नहीं होता। शारीरिक तनाव थोड़ा–बहुत तो उपयोगी भी है। व्यायाम, योग, आसन आदि में शरीर में तनाव की स्थिति उत्पन्न की जाती है, परन्तु शारीरिक तनाव भी आवश्यकता से ज्यादा हो जाए तो स्थिति बिगड़ सकती है। केवल काम ही काम, विश्राम नहीं, ऐसी स्थिति में तनाव इतना ज्यादा हो जाता है कि माँसपेशियाँ भी अकड़ जाती हैं। मानसिक और भावनात्मक तनाव तो पूर्णरूप से हानिकारक ही होता है।

चिन्ता, भय अथवा मानसिक उद्वेगों की अधिकता से मस्तिष्क के स्नायु अधिक सक्रिय हो जाते हैं। जो अंग अधिक सक्रिय हो जाता है, उसे अधिक कार्य करना पड़ता है। अधिक कार्य करने के लिए मस्तिष्क को ऊर्जा की आवश्यकता होती है, जिसकी पूर्ति रक्त से ही होती है। परिणामस्वरूप मस्तिष्क में रक्त का संचार बढ़ जाता है। शरीर में रक्त की मात्रा निश्चित ही होती है। अतः अन्यत्र रक्त का वितरण कम हो जाने से शरीर के उस भाग में ऊर्जा की कमी हो जाती है। ऊर्जा की कमी से वे अंग अपना कार्य बराबर नहीं कर पाते और व्यक्ति अनेक रोगों का शिकार होने लगता है। उसका पाचन बिगड़ जाता है, हृदय दुर्बल और स्नायु कमजोर, श्वसन आंशिक होने लगता है। रोग का कारण दूर किए बिना, स्थायी उपचार कैसे सम्भव हो सकता है ? उसका उपचार मानसिक शान्ति के बिना सम्भव नहीं।

देहधारी मानव का सृजन तन और मन के योग से हुआ है। दोनों में इतना सम्बन्ध है कि मन की प्रतिक्रियाँ का प्रभाव तन पर पड़े बिना नहीं रहता तथा शरीर के किसी अंग, उपांग, तंत्र और अवयव की खराबी अर्थात रोग के कारण मन में चिन्ता, तनाव, भय, अधीरता, दुःख होने लगता है। शरीर का सृजन सूक्ष्म कोशिकाओं एवं तन्तुओं से होता है, जिनके निर्माण में मन की प्रभावशाली भूमिका होती है। मानसिक विकारों से कोशिकाएं और तन्तु प्रभावित होते हैं, जिससे शरीर की सभी आवश्यक क्रियाएँ और तंत्र, अंगोपांग आदि असन्तुलित होने से शारीरिक रोगों की स्थिति बनने लगती है।

आँसू तनाव का प्रतीक

मानसिक तनाव, दुःख, चिन्ता आदि की स्थिति में शरीर में विपरीत प्रभाव डालने वाले जो रसायन बनते हैं, उन हानिकारक पदार्थों को आँसू बाहर निकालकर शरीर को स्वस्थ रखने में सहयोग देते हैं। कभी–कभी तनाव की स्थिति में भी न

रो पाने के कारण व्यक्ति में अन्दर ही अन्दर घुटन होने लगती है जिससे अनेक रोग होने की सम्भावनाएँ रहती हैं। पुरूषों की अपेक्षा भारतीय महिलाएँ भावुक होने के कारण आँसुओं के द्वारा अपने विकारों का विसर्जन कर देती है, इस कारण मानसिक तनावों से अपेक्षाकृत कम ग्रसित होती हैं। तनाव के समय रोने के लिए किसी मौके की तलाश रहती है, जैसे ही किसी ने कुछ विपरीत कहा अथवा देखा या सुना, तुरन्त रोना आ जाता है। अतः सदैव रोना कमजोरी का लक्षण नहीं होता। तनाव से निबटने की शारीरिक व्यवस्थाओं में रोना भी एक साधन होता है।

तनाव विसर्जन के उपाय

तनाव के कारणों को समझे बिना उससे छुटकारा नहीं पाया जा सकता। ऐसा प्रयास लकड़ी जलाकर रसोई बनाने के बजाय मात्र धुँआ करने के समान होगा। तनाव दूर करने के लिए---

1. दूसरों के विचारों को पूरी तरह सुनने, समझने एवं सत्यता के आधार पर स्वीकारने अथवा मान्यता देने का प्रयत्न करना चाहिए। दूसरों के विचारों को बदलने हेतु परेशान नहीं होना चाहिए।
2. आसपास के लोगों तथा वातावरण के प्रति अपनी प्रतिक्रियाओं का ध्यान रखना चाहिए। व्यर्थ तर्क–वितर्क से बचना चाहिए।
3. तनाव का कारण स्वयं में ढूँढ कर उसे स्वीकारना चाहिए। क्योंकि स्वयं का नियंत्रण तो हमारे ही पास है। दूसरों से अपेक्षाएँ नहीं रखनी चाहिए। अपमान होने पर भी मन को छोटा नहीं करना चाहिए। अपितु भूल जाना और क्षमा करना ही श्रेयस्कर होता है।
4. वर्तमान में जीने का प्रयास करना चाहिए।
5. दूसरों के साथ छल, कपट, मायावृत्ति के स्थान पर खुले हृदय से व्यवहार करने से तनाव कम हो जाता है। दूसरों के भविष्य के बारे में व्यर्थ चिन्ता नहीं करनी चाहिए।
6. कठिन परिस्थितियों, प्रतिकूलताओं में धैर्य रखना चाहिए, क्योंकि वे सदैव रहने वाली नहीं होतीं।
7. अपनी आवश्यकताओं, प्राथमिकताओं, आसक्तियों और इच्छाओं का विश्लेषण कर, अपनी अप्रसन्नता, दुःख आदि का मूल कारण ढूँढें। जिन व्यक्तियों को आप पसन्द नहीं करते अथवा जो आपको पसन्द नहीं करते, उनके प्रति आपके व्यवहार की समीक्षा कर, कारणों को दूर करने का प्रयास करें।
8. अपने कार्यों से शरीर और मन के साथ–साथ अपने परिवार, समाज और राष्ट्र के साथ भी तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित रखने का प्रयास करे।
9. मनुष्य जब प्रसन्न होता है तब ही उसे हँसी आती है। तनाव में हँसी और

मुस्कुराहट आ नहीं सकती। अतः जब भी तनाव की स्थिति उत्पन्न हो, एकान्त में दर्पण के सामने खड़े हो कृत्रिम रूप से मुस्कुराने अथवा हँसने से तनाव शान्त हो जाता है। हास्य चिकित्सा का यही सिद्धान्त है।

संक्षेप में सुखी मनुष्यों से प्रेम, दुःखियों के प्रति करूणा भाव, गुणीजन और पुण्यात्माओं के प्रति प्रसन्नता और पापियों के प्रति उदासीनता की भावना से तनाव कम हो जाता है।

सभी रोगों की जड़ है मन और मस्तिष्क

कारण चाहे जो हो मानसिक विकार प्राकृतिक जीवन–यापन में बाध्य बन शरीर को रोगग्रस्त, इन्द्रियों को उत्तेजित कर मन को आकुल–व्याकुल और अशान्त बनाते हैं। परिणामस्वरूप जीवनी शक्ति का तीव्रता से ह्रास होता है और रोग प्रतिरोधक क्षमता क्षीण होने लगती है। रोग असंयमी के साथ उसी प्रकार लगे रहते हैं, जिस प्रकार धुँए के साथ अग्नि। प्रायः कोई भी रोग ऐसा नहीं, जिसकी जड़ मस्तिष्क में न हो और जो असंयम, कुण्ठाओं, बुरी भावनाओं, दुर्वासनाओं से वर्तमान अथवा भूतकाल में पोषित न हुआ हो? मानसिक स्वास्थ्य और मनोबल दोनों जुड़े हुए हैं। यदि मनोबल टूटता है तो मन का स्वास्थ्य भी खराब हो जाएगा।

जिसका मन शुद्ध, निर्विकार और निरोगी होता है, उसके पाचन, स्नायु आदि संस्थान भी सशक्त होते हैं। उनका रक्त इतना सक्षम और शुद्ध होता है कि शरीर में उत्पन्न, विद्यमान तथा आने वाले सभी प्रकार के रोगों को परास्त एवं नष्ट करने की प्रतिरोधक क्षमता रखता है। अतः मानसिक निर्मलता से बढ़ कर न तो कोई शक्शिाली दवा ही होती है और न हीं रोग निवारक अमोघ औषधि।

आवेग का शारीरिक क्रियाओं पर प्रभाव

शरीर में हजारों मर्म स्थल होते हैं। ये मर्म स्थल ऊर्जा के आदान–प्रदान के माध्यम होते हैं तथा सम्बन्धित ऊर्जा की अभिव्यक्ति करते हैं तथा वृत्तियों को प्रकट करते हैं। प्रत्येक अभिव्यक्ति का शरीर में एक निश्चिम स्थान होता है। जैसे ही क्रोध आता है, तो शरीर में उत्तेजना पैदा होने लगती है। एक लहर की तरंग उठ निश्चिम स्थान पर पहुँच क्रोध संवदेन में बदल जाता है और शारीरिक प्रक्रिया आरम्भ होने लगती है। जैसे आँखे लाल होना, आवाज बदल जाना, जोश आना आदि। ऐसे समय यदि हम सजग हो जाएँ, स्नायु संस्थान पर अपना नियंत्रण रखे, अन्दर से उठने वाले आवेगों के साथ असहयोग करने का निर्देश दें तो अन्दर कितनी ही वृत्तियाँ क्यों न उभरें, उनका प्रभाव बाहर नहीं आ सकता।

किसी भी प्राणी का व्यवहार उसकी नाड़ी तंत्र अथवा शरीर की गतिविधियों से जाना जा सकता है। नाड़ी तंत्र की तुलना टेलीफोन व्यवस्था से की जा सकती है, जिसमें मस्तिष्क का कार्य टेलीफोन एक्सचेंज के जैसा होता है, जिसमें

सन्देश प्रेषण हेतु ज्ञानवाही संवदेनशील और क्रियाशील नाड़ियाँ होती है। जो शरीर से सँदेश मिलने पर आवश्यकतानुसार तुरन्त सहायता उपलब्ध कराने हेतु कार्यरत रहती है। इन्द्रियों और मन द्वारा उत्पन्न आवेग का प्रभाव सर्वप्रथम मस्तिष्क पर पड़ता है।

किसी कामना, इच्छा अथवा अहं की पूर्ति में बाधा पड़ने पर क्रोध का जन्म होता है। अज्ञान, अविवेक, और अहंकार इसके मुख्य कारण होते है। क्रोध का प्रारम्भ मूर्खता से और अन्त पश्चाताप से होता है। जो विचारवान, विवेकशील, बुद्धिमान होते हैं, वे क्रोध नहीं करते और जो क्रोध करते हैं, वे सम्यक् चिन्तनशील व्यक्ति नहीं होते। बुद्धिमान एवं धैर्यवान स्वभाव वाले क्रोध करने की अपेक्षा , क्रोध उत्पन्न करने वाले कारणों को ही दूर करने का प्रयास करते हैं। क्रोध में किया गया कार्य और लिया गया निर्णय प्रायः अशुभ और कष्टदायक ही होता है। क्रोध से शरीर और मस्तिष्क गरम हो जाता है। स्नायु संस्थान (Nervous System) पर तनाव आता है और वे दुर्बल होने लगते हैं। जब स्नायु क्रोध से उत्पन्न तनाव को सह नहीं पाते, तो हाथ–पैर काँपने लगते हैं, शरीर थरथराने लगता है, आँखे लाल हो जाती है। शरीर में पित्त का प्रकोप बढ़ने से उससे सम्बन्धित एसिडिटी, अल्सर, अपच, भूख न लगना, अनिद्रा, मानसिक तनाव, पाचन संस्थान के अंगों में जलन आदि रोग होने की सम्भावनाएँ बढ़ जाती है। हृदय के रोगी को तो क्रोध के कारण दिल का दौरा भी पड़ सकता है तथा कभी–कभी अचानक रक्त का दबाव बढ़ने से मस्तिष्क की स्नायु फटने से पक्षाघात (लकवा) तक हो सकता है। श्वास तीव्र गति से चलने लगती है। रक्त विषाक्त हो जाता है, जो विभिन्न रोगों का मुख्य कारण बनते हैं। दिनभर में अर्जित शक्ति क्षणभर के क्रोध से नष्ट हो जाती है। क्रोध से हम किसी को दबा सकते हैं, सुधार नहीं सकते।

क्रोधी व्यक्ति का स्वभाव चिड़चिड़ा एवं चेहरा विकृत हो जाता है तथा उसकी प्रतिष्ठा, यश, लोकप्रियता शीघ्र नष्ट हो जाती है। क्रोध से अविवेक से स्मरणशक्ति भ्रमित हो जाती है। स्मृति भ्रमित हो जाने से बुद्धि अर्थात् ज्ञान चेतना क्षीण हो जाती है। समृति भ्रमित हो मनुष्य अपने श्रेय साधन से भटक जाता है। अतः स्वस्थ रहने की कामना करने वालों को क्रोध से यथा सम्भव बचने का प्रयास करना चाहिए। क्योंकि क्रोधी व्यक्ति के क्रोध छोड़े बिना कोई भी उपचार स्थायी एवं प्रभावाशाली नहीं हो सकता।

क्रोध को कैसे जीतें ?

1. क्रोध आने के समय खड़े हो तो बैठ जाओ। बैठे हो तो खड़े हो जाओ।
2. क्रोध आने के समय पानी पी लो अथवा मुँह में पानी भर लो या मौन कर लो।

3. एक कागज पर लिख कर जेब में रखे —'मुझे क्रोध आ रहा है।' जब भी क्रोध आए, उसे निकालकर बार–बार पढ़ें।
4. अपमानजनक, व्यंग्यात्मक अथवा निन्दा सुनने से क्रोध आने पर, अपने आपको अनुपस्थित समझो और चिन्तन करो यदि मैं नहीं होता तो उस बात का जवाब कौन देता?
5. क्रोध आने पर उल्टी गिनती गिनना प्रारम्भ करें।
6. यदि कोई बड़ा व्यक्ति छोटा व्यक्ति पर क्रोध करे तो सोचो, अगर मुझ पर क्रोध नहीं करेगा तो किस पर करेगा। यदि छोटा व्यक्ति क्रोध करे तो उसे विवेकहीन समझ प्रतिक्रिया मत करो।
7. क्रोध का प्रसंग उत्पन्न करने वाले वातावरण से अपने आपको अलग कर लो।
8. अपने आपको, अपनी वृत्तियों को पढ़ें, समझें और आत्म निरीक्षण कर स्वदोष ढूँढें।
9. क्रोध के समय सजग एवं स्वविवेक जाग्रत रखने से, गुस्से का प्रभाव क्षीण हो जाता है।

भय का स्वास्थ्य पर प्रभाव

अनिष्ट की आशंका ही भय और चिन्ता का मूल कारण होती है। चिन्ता तो चिता के समान होती है। चिता तो मुर्दे को जलाती है, परन्तु चिन्ता जीवित व्यक्ति को अन्दर ही अन्दर जला देती है। चिन्ता से पाचन बिगड़ता हैं, रक्तचाप प्रभावित होता है। मस्तिष्क, स्नायु एवं हृदय रोग होने की सम्भावनाएं बढ़ जाती हैं तथा समय से पूर्व ही वृद्धावस्था के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। निद्रा और भूख भी प्रभावित होने लगती है।

भय से हृदय और स्नायु की सामान्य गति भी प्रभावित होती है। वाणी अवरूद्ध हो जाती है। शरीर में कम्पन होने लगता है। ज्ञानेन्द्रियों की संवदेना सुप्त हो जाती है तथा गम्भीर स्थितियों में तो भय के आघात से मृत्यु तक हो सकती है। भय, चिन्ता, क्रोध आदि मनुष्य की समस्त ऊर्जाओं को सोख लेते हैं।

ईर्ष्या और द्वेष

ईर्ष्या जलन व क्रोध को जन्म देती है जिससे व्यक्ति अन्दर ही अन्दर कुढ़ता रहता है। परिणामस्वरूप सामने वाले का तो कुछ भी नहीं बिगड़ता, परन्तु अपने स्वास्थ्य की हानि होती है। शुत्र तो उल्टा, ईर्ष्या करने वाले को दुःखी देख प्रसन्न होता है। अतः इस मानसिक विकार से बचना स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है।

अहंकार

अपनी प्रशंसा सुनना प्रत्येक व्यक्ति को अच्छा लगता है। अहंकार स्वयं

अपने आप में रोग है, क्योंकि जब भी उसको ठेस लगती है तो मन में घृणा, द्वेष, कलह की स्थिति बनती है।

घमण्डी व्यक्ति सदैव अपने को ही श्रेष्ठ समझता है और सबको वह हीन–दृष्टि से देखता है। उसकी बुद्धि पक्षघात पूर्ण हो पूर्वाग्रहों से ग्रसित हो जाती है, अतः कभी–कभी सच्चाई को जानते हुए भी स्वीकार नहीं करता, अतः उसका ज्ञान अथवा बुद्धि सीमित और संकुचित तथा विवेक सुषुप्त हो जाता है। प्रायः ऐसा व्यक्ति दूसरों के दृष्टिकोण को समझने का प्रयास नहीं करता। अहंकार पर चोट लगने से क्रोध अधिक आता है, जो अधिकांश रोगों का कारण बनता है। महान् व्यक्ति अभिमानी नहीं होते और जो अभिमानी होते हैं, वे कभी महान् नहीं हो सकते।

क्या लोभ रोग का कारण है

लोभ भी मानसिक रोग है। आज महत्त्वाकांक्षा को विकास का लक्षण माना जाता है। महत्वाकांक्षा मात्र जीवन चलाने के लिए हो तो, उसे फिर भी उचित माना जा सकता है, परन्तु जब ये असीम बन जाती है तो समस्या बन जाती है। प्रतिस्पर्धा के इस युग में मानसिक रोगों का एक प्रमुख कारण होता है–– महत्वाकांक्षाओं का असीम हो जाना। लोभ के कारण दूसरों से ईर्ष्या, द्वेष , कलह, लड़ाई, झगड़े आदि करने का कोई विचार नहीं होता, जिससे व्यक्ति अशान्त और तनावग्रस्त रहने लगता है। जो रोग का कारण होते हैं।

आत्महत्या क्यों ?

कभी–कभी मन में इन्द्रियों के भोग रूपी विषयों की तीव्रता अथवा कषाय रूपी दुर्भावनाओं, इच्छाओं की पूर्ति न होने से अथवा ऐसे ही असम्भव लगने वाले कारणों से व्यक्ति निराश हो जाता है। उसे संसार से घृणा हो जाती है। जीवन के प्रति नीरसता, उदासीनता, निराशा के भाव उसके अचेतन मन और अन्तर्मन में हावी हो जाते हैं, जिसके परिणामस्वरूप शरीर की जीवन रक्षक शक्तियाँ शिथिल होने लगती हैं और व्यक्ति मारणान्तिक भय उपस्थित होने पर भी असजग रहता है तथा अपनी सद्बुद्धि, विवेकपूर्ण, समयानुकूल सही निर्णय लेने का प्रयास नहीं करता। यही कारण है कि व्यक्ति आवेग के उन क्षणों में अपने आपको न सम्भाल पाने के कारण आत्महत्या करने जैसा निर्णय लेते हुए भी संकोच नहीं करता। अतः ऐसी परिस्थितियों से बचने के लिए निराशाजनक विचारों से सदैव बचना चाहिए।

जैसे तूफान के प्रभाव से तोड़–फोड़ और विनाश की स्थिति हो जाती है, उसी प्रकार आवेग से शरीर, मांसपेशियों, अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ आदि अत्यधिक प्रभावित होती हैं। जैसे ही मस्तिष्क आवेग का संवदेन करता है, तुरन्त आवश्यकतानुसार चेष्टावाही क्रियाशील नाड़ियों को सहायता हेतु आदेश देता है।

वेग केवल ही एक ही दिशा में ऊपर अथवा नीचे जाता है। जिस प्रकार

रेल की एक पटरी पर दो गाड़ियाँ एक साथ नहीं चल सकतीं। कुछ आगे–पीछे चलती है तथा तेज गति से चलने वाली एक्सप्रेस ट्रेन को सबसे अधिक प्राथमिकता दी जाती है। इसी प्रकार पहले आवेग और उसके बाद में निर्बल वेग को चलने को स्थान मिलता है। जैसे चमकीली, वस्तुएँ पहले दिखाई देती हैं, तेज आवाज पहले सुनाई देती है।

नाड़ी तंत्र की प्राथमिकताएँ बदलने से शरीर की सभी गतिविधियों में असन्तुलन हो जाता है। मस्तिष्क में अधिक रक्त संचार की आवश्यकता होती है। रक्त का दबाव बढ़ने से आक्सीजन की ज्यादा आवश्यकता होती है, जिसकी पूर्ति के लिए श्वास तेजी से चलने लगती है। शरीर की सारी ऊर्जा आवेग से उत्पन्न स्थिति को नियंत्रित करने में लगने से हृदय, श्वसन और नाड़ी तंत्र को अधिक कार्य करना पड़ता है। अतः इन्हें अधिक प्राणऊर्जा की आवश्यकता होती है, जिसकी पूर्ति शरीर में एड्रीनल ग्रन्थि का स्रवण भेजकर की जाती है। शरीर अल्पकालीन आवेग में तो येन–केन–प्रकारेण अपना सन्तुलन पुनः बना लेता है, परन्तु लम्बे समय तक रहने वाले आवेग से रोग हो ही जाते हैं।

उपचार से पूर्व यम–नियम का पालन आवश्यक

इसी कारण उपचार से पूर्व मानसिक विकारों को दूर करने के लिए यम, नियम का पालन आवश्यक होता है। पतंजलि के अष्टांग योग का प्रारम्भ भी अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि यम के पालन से होता है और शौच (मानसिक-शुद्धता), पवित्रता, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्राणिधान आदि नियमों का पालन आवश्यक बतलाया गया है। उसके बिना स्थायी स्वास्थ्य को असम्भव बतलाया है। परन्तु आज योग भी मात्र आसन और प्राणायाम तक सीमित होता जा रहा है। परिणामस्वरूप पातंजल योग जिससे सम्पूर्ण स्थायी निरोगता की प्राप्ति हो सकती थी, मात्र शारीरिक सफूर्ति का माध्यम बन कर रह गया है, जिसमें प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि जैसे योग की साधना से नर को नारायण बनाने की क्षमता है।

आधुनिक रेकी चिकित्सकों को भी रेकी करने से पूर्व निम्न पाँच संकल्पों का आचारण अनिवार्य होता है, जिसके बिना रेकी (स्पर्श) चिकित्सा प्रभावशाली नहीं होती।

1. मैं क्रोध अथवा गुस्सा नहीं करूँगा।
2. मैं सभी जीवों के प्रति करूणा, दया, प्रेम, मैत्री व आदर का व्यवहार करूँगा।
3. मैं अपना कार्य ईमानदारी पूर्वक करूँगा।
4. मैं चिन्ता नहीं करूँगा।
5. मैं प्रकृति की कृपा का आभार मानूंगा।

उपयुक्त नियमों के पालन से मानसिक विकार दूर हो जाते हैं तथा मन निर्मल, पवित्र और शुद्ध हो जाता है और तब ही ब्रह्माण्ड में व्यापत प्राणऊर्जा का अधिकाधिक आकर्षण और प्रवाह सम्भव होता है तथा रेकी की प्रभावशालिता अगणित हो जाती है।

जैन दर्शन में भी द्वादशांग योग के रूप में चर्चित निर्जरा चिकित्सा के पूर्व साधक को पाँच महाव्रतों और श्रावकों के लिए बारह व्रतों का पालन आवश्यक बतलाया गया है। उसके बिना शारीरिक, मानसिक और आत्मिक विकारों से मुक्ति नहीं मिल सकती।

यम–नियम के पालन से शरीर में अवयव रसायन युक्त हो जाते हैं, अर्थात् उनमें रोग निरोधक क्षमता बढ़ जाती है तथा मनोबल बढ़ जाता है, जो स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य है।

क्या वाणी स्वास्थ्य को प्रभावित करती है ?

भावों, विचारों, अभिव्यक्ति एवं संवाद का सशक्त माध्यम है–वाणी। विचार जब तक मन में रहते हैं, भाव कहलाते हैं, परन्तु जब वे वाणी के माध्यम से अभिव्यक्त हो जाते हैं, तो सार्वजनिक हो जाते हैं, मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जिसको मन के साथ–साथ वाणी की प्राप्ति होती है। मधुर वाणी हृदय की मधुरता, कठोर वाणी भावों की कठोरता, असम्बन्धित वाणी विचारों की अस्त–व्यस्तता की परिचायक होती है। वाणी में व्यक्ति का व्यक्तित्व झकलता है। मन में घबराहट अथवा काँपने से वाणी भी काँपने लगती है। दृढ़ मनोबल और आत्म विश्वास से वाणी में ओज आता है। स्वर दृढ़ हो जाता है। आशंका अथवा भय में स्वर धीमा हो जाता है, उसमें अस्पष्टता आ जाती है। वाणी ज्ञान और चिन्तन के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। वक्ता की वाणी के प्रभाव से समझने की क्षमता बहुत बढ़ जाती है। जो भाषा नहीं जानते उस भाषा में कही गई बात को विशेष प्रभाव नहीं पड़ता।

वाणी का सम्बन्ध शब्दों से होता है। भाषा उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम होती है। भाषा के द्वारा होने वाली आत्म प्रवृत्तियों को वचनर योग कहते हैं। वाणी मन द्वारा परिष्कृत होकर ही प्रकट होती है। जब मन में कहते सरलता, पवित्रता होती है तो वाणी मधुर और शुद्ध होती है, परन्तु जब मायावृत्ति होती है तो वाणी अपवित्र हो जाती है। शब्द की तरंगों में अपार शक्ति होती है। जो हम बोलते हैं, उन शब्दों की तरंगें क्षण मात्र में सारें संसार में फैल जाती है। इसी कारण तो मोबाइल फोन से हम दुनिया में किसी भी क्षेत्र में रहने वाले व्यक्ति से बातचीत कर सकते हैं। टी.वी., रेडियो, टेलीफोन आदि उपकरण ध्वनि की शक्ति से ही कार्य करते हैं। वाणी का शरीर और मन पर विशेष प्रभाव पड़ता है।

शब्द में अनन्त शक्ति होती है। प्रत्येक अक्षर शक्ति से ओत प्रोत होता

है। 'अ' से 'ह' तक प्रत्येक अक्षर का वर्ण होता है। स्वाद होता है। यदि हम उच्चारण की शुद्धता में जाएँ तो पता चलेगा कि अक्षरों के उच्चारण के साथ–साथ स्वाद में भी अन्तर आ जाता है, परन्तु आज यह सूक्ष्म ज्ञान लुप्त हो गया है, जिसके कारण मंत्रों की शक्ति भी विस्मृत हो रही है। मंत्र शक्ति शब्द की संयोजना और उच्चारण पर निर्भर होती है। किस उद्देश्य से मंत्र का उपयोग करना है, उसके अनुसार शब्दों की संयोजना जाती है। जैसे रसायनशास्त्री जानता है कि किन–किन द्रव्यों को मिलाने से कौन–सा द्रव्य बनता है? उसका प्रभाव कैसा होगा? ठीक उसी प्रकार मंत्र विद् भी जानता है कि किन शब्दों के संयोजन से किस प्रकार की तरंगें पैदा होती है? वे परमाणुओं को कैसे प्रभावित और प्रकम्पित करेंगे? उनकी परिणति किस प्रकार की होगी? इसी सिद्धान्त के आधार पर हमारे ऋषि–मुनियों ने चमत्कारी एवं प्रभावकारी मंत्रों की संरचना की, जो हमारे धर्म ग्रन्थों में भरे पड़े हैं। नमस्कार मंत्र, गायत्री मंत्रों की सरंचना की, जो हमारे धर्म ग्रन्थों में भरे पड़े हैं। नमस्कार मंत्र, गायत्री मंत्र आदि आज भी श्रद्धा से जपे जाते हैं।

ओम्, अहम्, सोहम् आदि मंत्राक्षरों का दीर्घ उच्चारण करने से, मन वाणी के साथ जुड़ जाता है। मन का योग पाकर वाणी शक्तिशाली हो जाती है। वायूमण्डल में कम्पन्न पैदा करती है, जिससे हानिकारक, अनिष्टकारी, परमाणु दूर हो जाते हैं। और वातावरण शुद्ध हो जाता है। मन्दिरों में प्राणप्रतिष्ठा के समय अथवा विशेष प्रसंगों पर मंत्रों के सामूहिक जाप के पीछे यही भावना और सिद्धान्त है। संगीत, प्रार्थना, भजन, भाषण, उपदेश, आदेश आदि के शरीर और मन पर पड़ने वाले प्रभावों का हम प्रतिदिन अनुभव करते हैं।

आकस्मिक दुर्घटना के पश्चात डाक्टर के आने का समाचार सुनते ही रोगी को कितनी राहत का अनुभव होता है? रोगी का आराम पूछने से, सान्त्वना के शब्दों से थोड़े समय के लिए रोगी अपना रोग कैसे भूल जाता है? अनुभवी डाक्टरों के प्रेम भरे शब्द रोगी को जितनी राहत दिलाते हैं, उतनी कभी–कभी अच्छी से अच्छी दवा भी नहीं दिलाती। इसी कारण तो सभी पैथियों (चिकित्सा पद्धतियों) में सहानुभूति (Sympthy) को सबसे अच्छी चिकित्सा माना है। किसी को प्रोत्साहित करने से, प्रेरणा देने से कार्यक्षमता कैसे बढ़ जाती है? थकान का अनुभव क्यों कम हो जाता है? न्यायाधीश द्वारा अपने अनुकूल फैसला देने से तनाव कैसे दूर हो जाता है? किसी की प्रशंसा करने से उसके चेहरे पर क्यों मुस्कुराहट झलकने लगती है। शत्रु के क्षमा मांगने से विरोधी का क्रोध कैसे शान्त हो जाता है? गलती कर माफी माँगने वालों को उचित शब्दों से सामने वाले का मनोबल कैसे बढ़ जाता है? मैत्री और प्रेम भरे शब्दों से सामने वाले का हृदय सरलता से जीता जा सकता है। जीवन में प्रतिदिन ऐसे सैंकड़ों प्रसंग आते हैं, जब हम वाणी के प्रभाव से ऊर्जा पाते हैं। मन पसन्द बात अथवा संगीत सुनते ही व्यक्ति भावविभोर हो, झूमने लगता हैं। तालियों

या चेहरे की मुस्कुराहट से अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। इसके विपरीत व्यंग्यात्मक और अपमानजनक शब्दों के प्रयोग से महाभारत हो सकता है। कटुवाणी से मित्रता का नाश होता है। डांटने, फटकारने, चिड़चिड़ाने से स्वयं की मानसिकता और विचारों में तो विकार होते ही हैं, सामने वालों में घृणा, नफरत, द्वेष के भाव पैदा करते हैं। निन्दा करने वालों और चुगली खाने वालों को शत्रुओं को ढूँढने की जरूरत नहीं होती । सत्य, मधुर और कम बोलने वालों का सभी आदर करते हैं और सदैव निर्भय एवं तनावमुक्त होते हैं। इसके विपरीत झूठ, कड़वा और ज्यादा बोलने वाले सदैव भयभीत और तनावग्रस्त रहते हैं। मधुर वाणी सर्वोत्तम आदर–सत्कार और उपहार है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वाणी एक ऊर्जा है। ऊर्जा का प्रयोग अच्छे कार्य के लिए भी हो सकता है और बुरे कार्य के लिए भी हो सकता है। शक्ति, शक्ति होती है। उसका अच्छा अथवा बुरा प्रयोग करना प्रयोक्ता पर निर्भर करता है। ऊर्जा अपने आप में अच्छी या बुरी नहीं होती। वाणी का प्रभाव तुरन्त और प्रभावशाली होता है। संगीतमय वातावरण में गाय ज्यादा दूध देती है। पेड़–पौधे और वृक्ष जल्दी विकसित होते हैं तथा उनकी गुणवत्ता बढ़ जाती है। आदर–सत्कार एवं प्रेम भरे वातावरण में खाया और खिलाया गया भोजन ज्यादा शक्तिवर्धक होता है। इसके विपरीत घृणा, द्वेष और अपमानजनक वातावरण में खाया गया पौष्टिक भौजन भी जहरतुल्य हो जाता है। इसी कारण हमारे देश में अतिथियों को पहले देवता के तुल्य समझा जाता था। उनका आदर सत्कार किया जाता था। भोजन कराते समय भी प्रेमपूर्वक मनुहार का प्रचलन था। खुशी के प्रसंगों पर सम्मानपूर्वक अपने प्रियजनं को आमंत्रित कर भोजन कराने का रिवाज था, परन्तु आज उसमें काफी कमी आ गई है। तनाव, संकट, पीड़ा, दुःख भुलाने के लिए मधुर वाणी अमूल्य औषधि का कार्य करती है। अतः स्वास्थ्य की कामना रखने वालों को वाणी का दुरूपयोग नहीं करना चाहिए तथा आवश्यकता पड़ने पर ही कम से कम विवेकपूर्वक सत्य, मधुर भाषा का प्रयोग करना चाहिए। मौन साधना से व्यक्ति का आत्मबल बढ़ता है।

में उपचार की प्रभावशील सबसे आवश्यक और प्राथमिक है। उसके अभाव में किए गए शोध और चर्चा का विशेष महत्त्व नहीं होता। स्वावलम्बी अहिंसात्मक चिकित्सा पद्धतियाँ रोग के मूल कारणों को दूर करती हैं। शरीर, मन और आत्मा में तालमेल एवं सन्तुलन स्थापित करती हैं। जो जितना महत्त्वपूर्ण है, उसको उसकी क्षमता के अनुरूप महत्त्व एवं प्राथमिकता देती है। शारीरिक क्षमताओं औश्र उसके अनुरूप आवश्यकताओं में सन्तुलन रखती है। स्वस्थ जीवन जीने के लिए जो अनावश्यक, अनुपयोगी प्रवृत्तियाँ हैं, उन पर नियन्त्रण रखने हेतु सचेत करती है। इस प्रकार आधि ।, व्याधि और उपाधि के सन्तुलन से सामधि शान्ति और सवस्थता प्रधान करती है, अतः अन्य चिकित्सा पद्धतियों से अधिक प्रभावशाली होती है। आवश्यकता है जिस किसी चिकित्सा को अपनाया जाए, उपचार अथवा आचरण करते समय उसके मूल सिद्धान्तों की अनदेखी नहीं होनी चाहिए। स्वावलम्बी अहिंसक चिकित्सा की यह प्रथम आवश्यकता है।

स्वास्थ्य सेवा में अहिंसा का पालन आवश्यक

किसी भी जीव को स्वस्थ रखने में दिया गया सहयोग उत्कृष्ट सेवा होती है। संवेदना जागे बिना सच्ची सेवा हो नहीं सकती। आधुनिक चिकित्सा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए मूक, बेबस, असहाय जीवों पर विभिन्न प्रकार के प्राणघातक प्रयोग किए जाते हैं। लकड़ी में आग होती है। क्या उसको देखा जा सकता है? ठीक उसी प्रकार जानवरों के विच्छेद से शरीर के बनावट की जानकारी तो हो सकती है, परन्तु चेतना की उपेक्षा करने वाला ज्ञान कैसे पूर्ण, वास्ताविक और सच्चा हो सकता है?

दवाइयों के निर्माण हेतु जीवों के अवयवों का बिना किसी परहेज उपयोग होता है। औषधियों के परीक्षण हेतु जीवों को यातनाएँ दी जाती है। उनकी मान्यतानुसार मनुष्य के लिए सभी अपराध क्षमा होते हैं। क्या आपने कभी सोचा आपके दुःख, दर्द, रोग अथवा पीड़ा का क्या कारण है? यह ता आपके ही किएकी प्रतिक्रिया है। "क्रिया की प्रतिक्रिया" तो इस सृष्टि का सनातन सिद्धान्त है। हमने अतीत जीवन में या जन्मों में किसी को मारा है, पीटा है, सताया है, रूलाया है, प्रताड़ित किया है, उसी की सजा के रूप में रोग आते हैं। स्पष्ट है रोग का कारण हमारी क्रूरता, कठोरता, कामुकता से जुड़ा हुआ है। स्मस्तिष्क मं अविवेक एवं प्राणिमात्र के प्रति अशुभ चिन्तन सबसे बड़ा ब्रेन हेमरेज है तथा हृदय में दया, करूणा नहीं होना सबसे बड़ी हार्ट ट्रबल है। अपराध करने, करवाने और करने में सहयोग देने वाले प्रत्यक्ष--अप्रत्यक्ष रूप में अपराधी होते हैं। हिंसा को प्रोत्साहन देने वालों की संवेदना प्रायः प्राणि मात्र के प्रति विकसित नहीं होती। इसी कारण आधुनिक चिकित्सक अपेक्षाकृत कम संवदेनशील होते हैं। रोग का सही निदान न जानने के बावजूद अपनी गलती न स्वीकार कर येन--केन--प्रकारेण रोगों को दबा वाहवाही

लूट न केवल अपने अहं का पोषण करते हैं, अपितु रोगी को प्रयोगशालाबना अपना स्वार्थ साधते हैं। अतः दुःख से बचने वालों को अन्य प्राणियों को दुःखी बनाने में प्रत्यक्ष–परोक्ष रूप से सहयोगी नहीं बनना चाहिए। सेवा कर्म निर्जरा का सशक्त माध्यम है औश्र हिंसा कर्म बन्धन का प्रमुख कारण। अतः सेवा के साथ साधन और सामग्री की पवित्रता आवश्यक होत है, उसके अभाव में की गई सेवा घाटे का सौदा है। कर्ज चुकाने के लिए ऊचें ब्याज पर कर्ज लेने के समान है। अतः चिकित्सा जितनी ज्यादा अहिंसक होगी, उतनी ही आत्मा के विकारों को दूर कर पवित्र बनाने वाली होगी।

जैसे–जैसे आत्मा कर्मों से मुक्त होती जाएगी, अशुभ कर्म क्षय होते जाएँगे और सभी स्तर के रोगों से मुक्ति मिलती जाएगी। यही स्थायी स्वास्थ्य प्राप्ति का सम्यक् मार्ग होता है।

स्वदेशी की स्थापना के लिये प्रतिबद्ध आंदोलन

हम सभी जानते हैं कि आज से 500 साल पहले 1498 में पुर्तगाली नाविक वास्को–डी–गामा ने भारत के लिये एक नये समुद्री मार्ग की खोज की और इसी समुद्री मार्ग से पुर्तगाली, डच, फ्रांसीसी और बाद में अंग्रेज हमारे देश में आये और हमें गुलाम बनाया। वास्तव में वास्को–डी–गामा की खोज ने भारत की लूट का एक और मार्ग खोल दिया। उसके बाद अंग्रेजों ने भारत को न केवल लूटा बल्कि उसे अपना गुलाम भी बनाया। सन् 1600 में एक ईस्ट इंडिया कम्पनी और उसके साथ आयी अंग्रेजी फ़ौज ने समूची भारतीय व्यवस्थाओं तथा शिक्षाप्रणाली, आर्थिक व्यवस्था, व्यावसायिक प्रणाली, कृषि प्रणाली एवं सामाजिक व्यवस्था को तोड़कर 300–350 वर्षों तक हमें गुलाम बनाकर अपनी हुकूमत चलाई। उसके बाद गांधीजी के नेतृत्व में आज़ादी की लड़ाई लड़ी गई और लगभग 20 करोड़ की से ज्यादा क्रान्तिकारियों की कुर्बानियाँ देकर हमने आजादी हासिल की।

आज फिर से हम गुलामी की ओर बढ़ रहे हैं। पहले एक ईस्ट इण्डिया कम्पनी आई और उसने 300 साल तक गुलाम बनाये रखा परन्तु आज तो कई हजार बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ हैं, तो कितने साल की गुलामी होगी? आपको शायद मालूम होगा कि 100–200 साल पहले अंग्रेजों ने भारत को गुलाम बनाने और उस पर अपना शासन चलाने के लिये जो कानून और नीतियाँ बनाई थीं वे देश की आजादी के 50 साल बाद भी चल रही हैं। बस अन्तर इतना ही है कि पहले गोरे अंग्रेज शासन करते थे, परन्तु आज काले अंग्रेज शासन कर रहे हैं, बाकी सारी व्यवस्थायें और नीतियाँ ज्यों की त्यों हैं। इतना ही नहीं ,कार्यप्रणाली भी अंग्रेजी सभ्यता की ही है।

आज उदारीकरण और वैश्वीकरण की नीति के नाम पर पूरे देश को ग़रीबी और बेरोज़गारी के दलदल में ढकेला जा रहा है। हमारे देश की संस्कृति और परम्पराओं को न बढ़ाकर पश्चिमी आतताई और शैतानी संस्कृति को बढ़ावा दिया जा रहा है। क्या यही सपना देखा था हमारे शहीदों ने ? क्या उन्होंने अपनी कुर्बानी इसी भारत के लिये दी थी ?

इन्हीं सब परिस्थितियों को देखकर आज़ादी बचाओ आंदोलन ने पूरे देश में सोये हुए युवाओं को जगाने का संकल्प लिया है। और साथ ही आज़ादी बचाओ आन्दोलन अपने समाज व सभ्यता के नवीनीकरण के लिये आवश्यक ज़मीन तैयार करने में लगा हुआ है।आंदोलन की कोशिश है कि हमारे मन में अपने देश, समाज, संस्कृति और सभ्यता के प्रति जो अनादर और निराशा का भाव आ गया है वह ख़त्म होकर आजादी और आशा का भाव जाग्रत हो तथा अपने प्रति आत्मविश्वास पैदा हो।

शरीर के परिचय से पहले आरोग्य किसे कहते हैं, यह समझ लेना ठीक होगा। आरोग्य के मानी हैं तन्दुरुस्त शरीर। जिसका शरीर व्याधि–रहित है, जिसका शरीर सामान्य काम कर सकता है, अर्थात् जो मनुष्य बगैर थकान के रोज दस–बारह मील चल सकता है, जो बगैर थकान के सामान्य मेहनत–मज़दूरी कर सकता है, सामान्य खुराक पचा सकता है, जिसकी इन्द्रियां और मन स्वस्थ हैं, ऐसे मनुष्य का शरीर तन्दुरुस्त कहा जा सकता है। इसमें पहलवानों या अतिशय दौड़ने–कदूनेवालों का समावेश नहीं है। ऐसे असाधारण बल वाले व्यक्ति का शरीर रोगी हो सकता है। एसे शरीर का विकास एकांगी कहा जायगा।

–महात्मा गाँधी 28.8.1942

स्वराज प्रकाशन समूह